वार्षिक रु. १००, मूल्य रु. १२

विवेक ज्योति

वर्ष ५५ अंक ५ मई २०१७

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

मई २०१७

प्रबन्ध सम्पादक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी प्रपत्त्यानन्द

सह-सम्पादक
स्वामी मेधजानन्द

व्यवस्थापक
स्वामी स्थिरानन्द

वर्ष ५५
अंक ५

वार्षिक १००/– **एक प्रति १२/–**

५ वर्षों के लिये – रु. ४६०/–
१० वर्षों के लिए – रु. ९००/–
(सदस्यता-शुल्क की राशि इलेक्ट्रॉनिक मनिआर्डर से भेजें अथवा **ऐट पार** चेक – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ
अथवा निम्नलिखित खाते में सीधे जमा कराएँ :
सेन्ट्रल बैंक ऑफ इन्डिया, **अकाउन्ट नम्बर** : 1385116124
IFSC CODE : CBIN0280804
कृपया इसकी सूचना हमें तुरन्त केवल ई-मेल, फोन, एस.एम.एस. अथवा स्कैन द्वारा ही अपना नाम, पूरा पता, **पिन कोड** एवं फोन नम्बर के साथ भेजें।
विदेशों में – वार्षिक ३० यू. एस. डॉलर;
५ वर्षों के लिए १२५ यू. एस. डॉलर (हवाई डाक से)
संस्थाओं के लिये –
वार्षिक १४०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ६५०/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)
विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
ई-मेल : vivekjyotirkmraipur@gmail.com
वेबसाइट : www.rkmraipur.org
आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, ४०३६९५९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)
रविवार एवं अन्य अवकाश को छोड़कर

अनुक्रमणिका

आवरण-पृष्ठ के सम्बन्ध में

यह चित्रकारी रामकृष्ण मठ, पुणे की चित्र-प्रदर्शनी की है । स्वामी विवेकानन्द जी की ऐतिहासिक पाश्चात्य विजययात्रा के बाद उनकी स्वदेश वापसी पर हुए भव्य स्वागत को यहाँ दर्शाया गया है । उनके स्वागत में उत्साही युवकों ने रथ से घोड़ों को खोलकर स्वामीजी का रथ खींचा था । नगर के आबालवृद्धवनिता सभी स्वामीजी का स्वागत-अभिवादन कर रहे हैं ।

विवेक-ज्योति स्थायी कोष

दान दाता	दान-राशि
श्री जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव, प्रतापगढ़ (उ.प्र.)	३९००/-
श्री सतीश ठाकुर, सरदार शहर, चुरु (राज.)	१०००/-

मई माह के जयन्ती और त्योहार

०१	रामानुज जयन्ती
१०	बुद्ध पूर्णिमा
२५	षोडशी पूजा

लेखकों से निवेदन

सम्माननीय लेखको ! गौरवमयी भारतीय संस्कृति के संरक्षण और मानवता के सर्वांगीण विकास में राष्ट्र के सुचिन्तकों, मनीषियों और सुलेखकों का सदा अवर्णनीय योगदान रहा है । विश्वबन्धुत्व की संस्कृति की द्योतक भारतीय सभ्यता ऋषि-मुनियों के जीवन और लेखकों की महान लेखनी से संजीवित रही है । आपसे नम्र निवेदन है कि 'विवेक ज्योति' में अपने अमूल्य लेखों को भेजकर मानव-समाज को सर्वप्रकार से समुन्नत बनाने में सहयोग करें । विवेक ज्योति हेतु रचना भेजते समय निम्नलिखित बातों का ध्यान रखें –

१. धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा मानव के नैतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक विकास से सम्बन्धित रचनाओं को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है । **२.** रचना बहुत लम्बी न हो । पत्रिका के दो या अधिकतम चार पृष्ठों में आ जाय । पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर स्पष्ट सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुयी हो । आप अपनी रचना ई-मेल – vivekjyotirkmraipur@gmail.com से भी भेज सकते हैं । **३.** लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें । **४.** आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें । अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें **५.** पत्रिका हेतु कवितायें छोटी, सारगर्भित और भावपूर्ण लिखें । **६.** 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचारों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा । **७.** 'विवेक-ज्योति' में मौलिक और अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है, इसलिये अनुवाद न भेजें । यदि कोई विशिष्ट रचना इसके पहले किसी दूसरी पत्रिका में प्रकाशित हो चुकी हो, तो उसका उल्लेख अवश्य करें ।

*विवेक ज्योति के अंक ऑनलाइन पढ़ें : **www.rkmraipur.org***

वे धन्य हैं

तज्ज्ञानं प्रशमकरं यदिन्द्रियाणां,
तज्ज्ञेयं यदुपनिषत्सु निश्चितार्थम् ।
ते धन्या भुवि परमार्थनिश्चितेहाः
शेषास्तु भ्रमनिलये परिभ्रमन्ति ।।

– ज्ञान वही है, जो इन्द्रियों को शान्त करे । उपनिषद के द्वारा निश्चित तत्त्व ही ज्ञेय है । इस जगत में वे पुरुष ही धन्य हैं, जिनकी परमार्थ दिशा में, परमात्मा की ओर प्रवृत्ति है । शेष दूसरे लोग तो वासनात्मक भ्रमनिलय में, भव-चक्र में व्यर्थ ही भटकते रहते हैं ।

आदौ विजित्य विषयान्मदमोहराग-
द्वेषादिशत्रुगणमाहृतयोगराज्याः ।
ज्ञात्वाऽमृतं समनुभूय परात्मविद्या-
कान्तासुखा वनगृहे विचरन्ति धन्याः ।।

– वे धन्य हैं, जो पहले योग से विषयों को, मद-मोह-राग-द्वेष आदि शत्रुओं को जीतकर अध्यात्म-विद्यारूपिणी माया का अनुभव करते हुए वन-भवन में विचरण करते रहते हैं ।

पुरखों की थाती

सन्त एव सतां नित्यमापदुद्धरणक्षमाः ।
गजानां पङ्कमग्नानां गजा एव धुरन्धराः ।।५४८।।

– सज्जन लोग ही सज्जनों को उबारने में समर्थ होते हैं । दलदल में फँसे हाथी को हाथी ही बाहर निकाल सकते हैं ।

सुजीर्णमन्नं सुविचक्षणः सुतः
सुशासिता स्त्री नृपतिः सुसेवितः ।
सुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत्कृतं
सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम् ।।५४९।

– अच्छी तरह पका हुआ अन्न, खूब विद्वान् पुत्र, भलीभाँति शासित स्त्री, अच्छी तरह सेवित राजा, खूब सोचकर कही हुई बात और बहुत सोच-विचारकर किया हुआ काम – बहुत दिनों तक नहीं बिगड़ता ।

स्थानेष्वेव नियोज्यन्ते भृत्याश्चाभरणानि च ।
नहि चूडामणिः पादे नूपुरं शिरसा कृतम् ।।५५०।।

– भृत्य और आभूषण उचित स्थानों पर ही धारण करने पर भले लगते हैं । कोई चूड़ामणि को पैर में और नुपूर को मस्तक पर नहीं धारण करता ।

स बन्धुर्यो विपन्नानाम्-आपदुद्धरणक्षमः ।
न तु भीतपरित्राण-वस्तूपालम्भ-पण्डितः ।।५५१।।

– जो विपत्ति में पड़े हुए व्यक्ति को उबार सके, वही मित्र है, न कि वह जो भयभीत मित्र को धिक्कारने में निपुण हो ।

विविध भजन

शन्ति पाओगे जीवन में

स्वामी प्रपत्त्यानन्द

शान्ति पाओगे जीवन में, प्रभु शरण जाने के बाद ।
पाओगे आनन्दसिन्धु, प्रभु-शरण जाने के बाद ।।

अपने सब दुख कष्ट को सौंप दो प्रभु के चरन,
करते हैं उद्धार उसका, जो जाता उनकी शरन ।
प्रेमसिन्धु से मिलोगे, विषय-विष तजने के बाद ।।

शुष्क यह संसार भी रसमय हो जायेगा,
यदि सभी वस्तु को तू प्रभु से मिलायेगा,
पाओगे प्रभु को सभी में, ईशमय होने के बाद ।।

जो तू चाहे भक्त बनना, तो इसे तू जान लो,
हरि हेतु हे सखे, निज जीवन बलिदान दो ।
खम्भ से प्रगेटेंगे प्रभुजी, प्रह्लाद बन जाने के बाद ।।

प्रभु की करुणा से विष भी सुधा बन जायेगा,
जो तू कर विश्वास उन पर विष भी पी जायेगा,
तो पाओगे शाश्वत अमरता, यह जीवन देने के बाद ।।

ध्रुव और प्रह्लाद ने कष्टों में भी मुस्काया है,
प्रेमरूपिणी मीरा ने विष को कंठ लगाया है ।
काल भी डर जायेगा, महाकाल को पाने के बाद ।।

दुख की काली घटा से मत कभी होना हताश,
तम में ही ज्योति चमकती पाओगे प्रभु को ही पास।
आयेंगे प्रभु स्वयं दौड़े, अपनी प्रतिज्ञा कर याद ।।

तू अमर शाश्वत सनातन आत्मा स्वरूप है,
नित्य अखण्ड विराट और परमात्मा का रूप है ।
ब्रह्माण्ड भी अनुचर बनेगा, ब्रह्मज्ञ बन जाने के बाद ।।

करुणा करो जानकी माता

स्वामी राजेश्वरानन्द सरस्वती

करुणा करो जानकी माता
जीवन में विश्वास बदल दो,
दल बल दोष द्वन्द्व को दल दो ।
दुखिया का दुर्भाग्य बदल दो,
बनकर भाग्य विधाता ।।
करुणा करो जानकी माता ।।

तन रोगी मन मैल मढ़ा है,
चित्त कुसंग का रंग चढ़ा है ।
साधनहीन दीन यह तुम्हरे,
स्वामी के गुण गाता ।।
करुणा करो जानकी माता ।।

कोई करे जप-तप-व्रत साधन,
कोई आत्मरूप का चिन्तन,
हूँ अनुराग विहीन किन्तु,
मुझे भाव भक्ति का भाता ।
करुणा करो जानकी माता ।।

सुत की बिगड़ी बात बना लो,
राघव संग आप अपना लो,
दुनियाँ को सच कर दिखला दो,
माँ बेटे का नाता,
करुणा करो जानकी माता ।।

तुमसे दूर तुम्हारा होकर,
कहता है राजेश ये रोकर ।
आ जाओ माँ आ जाओ,
यह बेटा तुम्हें बुलाता ।।
करुणा करो जानकी माता ।।

आध्यात्मिक मनोवृत्ति का विस्तार करें

सम्पादकीय

हम स्वयं बँधे भव-बन्धन में

मानव-मन स्वभावत: चंचल, अस्थिर होता है। किसी एक विषय में तल्लीनता, किसी एक केन्द्र में एकाग्रता, इसकी प्रकृति नहीं है। इसलिये इस संसार में आते ही हमें विभिन्न आयामों के द्वारा इसकी चंचलता की दिशा मोड़कर एक वस्तु में एकाग्रता का अभ्यास कराया जाता है। जब भौतिक जीवन में सफलता के लिये लक्ष्योन्मुखी एकाग्र मन की आवश्यकता होती है, तो आध्यात्मिक जीवन के बारे में तो विशेष एकाग्रता की आवश्यकता होती है। मानव मन बड़ा प्रपंची है। मनुष्य संस्कारावशात् स्वकल्पित विभिन्न जग-जालों से अपने को स्वयं ही बाँध लेता है और जन-पथ पर खड़ा होकर आवागमन करनेवाले पथिकों से रो-रोकर कहता है, "हे पथिको ! इन जालों ने मुझे बाँध लिया है, मुझे बचाओ।" हमारी ऐसी दशा है ! यह सब कैसे हुआ? हमारी मनोवृत्तियों के कारण, मन का माया में फँसने के कारण हुआ। कैसे मन में वासना सूत्रवत जगती है और छोटी-सी चीज से कितनी बड़ी लालच दिखाकर जीव को सांसारिक वस्तुओं में स्थायी सुख-सुविधा से आशान्वित कर संसार में फँसा देती है, इसका एक उदाहरण देखिये।

माया की अद्भुत लीला !

२२ जुलाई, १८८३ को दक्षिणेश्वर के अपने कक्ष में श्रीरामकृष्ण देव बैठे हुए हैं। वे भक्तों को उपदेश दे रहे हैं –

"त्रिगुणातीत होना बड़ा कठिन है। ईश्वर-प्राप्ति किये बिना वह सम्भव नहीं है। जीव माया के राज्य में रहता है। यही माया ईश्वर को जानने नहीं देती। इसी माया ने मनुष्य को अज्ञानी बना रखा है। हृदय एक बछड़ा लाया था। एक दिन मैंने देखा कि उसने चारा खाने के लिये उसे बगीचे में बाँध दिया है। एक दिन मैंने उसे पूछा, 'हृदय, तू प्रतिदिन उसे वहाँ क्यों बाँधकर रखता है?' हृदय ने कहा, 'मामा ! बछड़े को घर भेजूँगा। बड़ा होने पर वह हल में जोता जायेगा।' ज्योंहि उसने यह कहा, मैं मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। सोचा, कैसा माया का खेल है ! कहाँ तो कामारपुकुर सिहोड़ और कहाँ कलकत्ता ! यह बछड़ा उतना रास्ता चलकर जायेगा, वहाँ बढ़ता रहेगा, फिर कितने दिन बाद हल खींचेगा ! इसी का नाम संसार है, इसी का नाम माया है।"

ऐसी है माया और ऐसी है जीव की मनोवृत्ति। इसीलिये शास्त्रों ने कहा – **मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो:** – अर्थात् मन ही मानवों के बन्धन और मोक्ष का कारण है। श्रीरामकृष्ण देव के इस दृष्टान्त से कैसे माया हमारे मन को दिग्भ्रमित कर बन्धनों में डाल देती है, जगप्रपंच में फँसा देती है, यह ज्ञात होता है। लेकिन यदि हम वासना-विस्तार न कर, आध्यात्मिकता का विस्तार करें, तो यही मन हमें मुक्त भी कर सकता है, यह कैसे होता है? आइये देखते हैं।

आध्यात्मिक मनोवृत्ति का विस्तार कैसे करें ?

जब मन का स्वभाव प्रपंच विस्तार करना है, तो हम मन को ऐसा प्रशिक्षित कर सकते हैं, जिससे वह उन वस्तुओं में आध्यात्मिक भावना का विस्तार कर हमें प्रपंच में बाँधने के बदले प्रपंच से मुक्त कर देगा।

भारतीय संस्कृति में चर-अचर सबमें ईश्वर की सत्ता का प्रतिपादन किया गया है। उस सत्ता का हमारे वैदिक ऋषियों ने साधना के द्वारा अपने अन्तस्तल में अनुभव कर उद्घोषणा की – **ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।**

तेन त्यक्तेन भुंजीथा: मा गृध: कस्यस्विद्धनम्।।

– इस संसार में जो कुछ है, सबमें ईश्वर व्याप्त है। परवर्तीकाल में श्रीशंकराचार्यजी ने स्वानुभूति को 'विवेकाचूडामणि' नामक ग्रन्थ में अभिव्यक्त किया – **एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन** – इस जगत में एक अद्वय ब्रह्म ही है। ऋषियों द्वारा अनुभूतिपरक इस दृष्टि ने साधारण जन-मानस को नर रूप के साथ पशु-पक्षी, कीट-पतंग, गिरि, गह्वर, प्रस्तर, वृक्ष, तृण, सरिता, समुद्र सबको देव-देवी और भगवद्-दृष्टि से आराधना करने को प्रेरित किया।

सामान्य ग्रामीण भी जिसने कभी वेद-शास्त्रों का अध्ययन नहीं किया, नहीं सुना, वह भी कुल-परम्परा से प्राप्त प्रथाओं के द्वारा तुलसी-पूजन, वृक्ष में जलाभिषेक, पशु-पक्षियों और कीटों को आहार देना, माता-पिता की सेवा, मन्दिर में देव-पूजन, अतिथि, ब्राह्मण, संन्यासी, दीन-दुखियों की सेवा आदि सभी कर्तव्य कर्म भगवद्-उपासना के रूप में करता है। कहीं-न-कहीं उसके मूल में भगवद्भाव ही है।

जब हमारे मन में कोई ऐसा विचार उठे, जो हमें संसार में बाँधता है, तो हमें शीघ्र अपनी दृष्टि बदल कर उसके

मूल में अधिष्ठित परमात्मा का चिन्तन करना चाहिये। जब प्रारब्धवशात् लौकिक दायित्व आये, तो उसमें ईश्वर की सत्ता का बोधकर उसे ईश्वरीय भावना में ढालना चाहिये। तब हमारा आध्यात्मिक विकास तीव्र गति से होता है और पूर्व जागतिक विचार भगवद्भाव में परिणत होकर हमें भव-बन्धनों से मुक्त करने में सहायक होता है।

सत्यकाम को गुरु की आज्ञा से गो-सेवा के द्वारा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हुई थी। छान्दोग्योपनिषद में बड़ा सुन्दर आख्यान मिलता है। ऋषि गौतम ने सत्यकाम को ४०० दुबली और दुर्बल गायें देते हुये कहा – **संव्रजेति ता अभिप्रस्थापयुन्नुवाच ना सहस्रेणावर्तेयेति स ह वर्षगणं प्रोवास ता यदा सहस्रंसंपेदुः**। – 'सौम्य ! तुम इन गायों के पीछे जाओ।' उन गायों को ले जाते समय सौम्य ने कहा, 'एक हजार गायें हुए बिना मैं वापस नहीं लौटूँगा।' एक हजार गायें होने तक वे वन में ही रहे। एक दिन एक वृषभ ने सत्यकाम को ब्रह्म के 'प्रकाशवान' नामक चार कलाओं वाले पाद का उपदेश दिया। एक दिन हंस ने ब्रह्म के चतुष्कल पाद के 'ज्योतिष्मान' पाद का उपदेश दिया। एक दिन मद्गु (एक जलचर पक्षी) ने चतुष्कल पाद के 'आयतन' नामक पाद का उपदेश दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्येतर प्राणियों की सेवा और उनमें आध्यात्मिक दृष्टि परिवर्तन के द्वारा भी लोगों ने अध्यात्म की चरमावस्था को प्राप्त किया।

नर में नारायण या नर में देव, अतिथि, पूज्य भावना मानव मन को स्वीकार हो सकता है, मन्दिरों में स्थापित देव-देवियों की मूर्तियों में दैवी भावनाओं की उद्दीपना हो सकती है और व्यक्ति उनकी उपासना कर ईश्वर-दर्शन कर सकता है, ऐसा विश्वास हो सकता है, किन्तु इनसे पृथक दैनिक कर्तव्यों को साधना के रूप में करके, यहाँ तक कि पशु-पक्षियों, अन्य जीवधारियों में भी ईश्वर-भावना से उपासना कर हम जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं, ऐसा जन-साधारण को प्रतीत नहीं होता। इसलिये वह इनकी उपेक्षा करता है। प्रारब्ध से प्राप्त कर्तव्य-कर्म की व्यक्ति उपेक्षा करता है, और प्रचलित मनोवांछित साधनों के अभाव में दुख व्यक्त करता है तथा संघर्ष और द्वन्द्व में साधना न करके लक्ष्य से च्युत हो जाता है।

अत: सर्वप्रथम हम अपनी वासनाओं का विस्तार न करें, अप्राप्त वस्तु हेतु वियोग न करें तथा प्राप्त व्यक्ति, वस्तु, स्थान, परिवेश का आध्यात्मिकीकरण कर साधना में अग्रसर हों, जैसा हमारे ऋषि अनादि काल से करते चले आ रहे हैं।

बाह्य सामान्य क्रिया-कलापों में भी मन को आध्यात्मिक भावों से पूर्ण किया जा सकता है और आध्यात्मिक गहराई तक पहुँचा जा सकता है। एक बार बुद्ध ने कहा था, जो अच्छा चरवाहा है, वह श्रेष्ठ भिक्षु भी बनेगा। इस सम्बन्ध में भगवान बुद्ध के जीवन की घटना सुनी जाती है।

एक बार भगवान बुद्ध किसी ग्राम से जा रहे थे। उन्होंने एक पशु चराते हुए चरवाहे को देखा। उन्होंने देखा कि वह चरवाहा बड़े सावधानी से उस पशु की देखभाल कर रहा है। उस चरवाहें में उन्हें आध्यात्मिक विकास की सम्भावना दिखी। कालान्तर में उन्होंने उस चरवाहे को बुद्ध संघ में सम्मिलित किया, जो श्रेष्ठ बौद्ध भिक्षु बना था। एक बार भिक्षुओं को उपदेश देते समय भगवान बुद्ध ने कहा – जैसे चरवाहा अपने पशु की प्रकृति को जानता है, कब किस पशु को क्या चारा देना है, कैसे उसकी मच्छरों से रक्षा करनी है, कैसे उसे स्नेहपूर्वक पुचकारना है, यह सब चरवाहा जानता है। वैसे ही भिक्षु को भी अपनी प्रकृति को जानना चाहिये। उसे अपने तन-मन-वाणी और चित्तवृत्तियों पर निगरानी रखनी चाहिये। जैसे चरवाहा पशु को स्नान कराकर साफ करता है, वैसे ही भिक्षु को भी अपने शारीरिक, मानसिक और वाचिक कल्मषों से मुक्त होकर चित्त को स्वच्छ रखना चाहिये। जैसे चरवाहा अपने पशुओं की सभी क्रियाओं और संकेतों को समझता है और पूरी सजगता से उसकी व्याधियों की चिकित्सा कर उसे स्वस्थ रखता है, वैसे भिक्षु को भी अपने मन और इन्द्रियों की गतिविधियों को जानना चाहिये तथा त्रिदुखों से मुक्ति की साधना कर अपने शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित होना चाहिये।

इन सब दृष्टान्तों को देने का मेरा उद्देश्य था, अधिकांश लोग जप-ध्यान-स्वाध्याय आदि को ही साधना का अंग मानते हैं और यथाशक्ति उन्हीं के अनुपालन को ही आध्यात्मिक प्रगति का आधार मानते हैं। पारिवारिक और सामाजिक दायित्वों के आने पर उन कर्तव्य कर्मों की उपेक्षा करते हैं और दुख प्रकट करते हैं । किन्तु यदि हम जप-ध्यान के साथ-साथ अपने जीवन के दैनिक सामान्य स्वाभाविक कार्यों को पूरी सावधानी और सजगता से आध्यात्मिक भाव से करें, तो हमारा आध्यात्मिक विकास अवश्य होगा।

अत: हम वस्तु में वासनाओं का विस्तार न करें, बल्कि सर्वत्र आध्यात्मिक दृष्टि का विस्तार करते हुए सबके मूल में अधिष्ठित परमात्म-भाव में निमज्जित होने का प्रयास करें। ○○○

निवेदिता की दृष्टि में स्वामी विवेकानन्द (५)

संकलक : स्वामी विदेहात्मानन्द
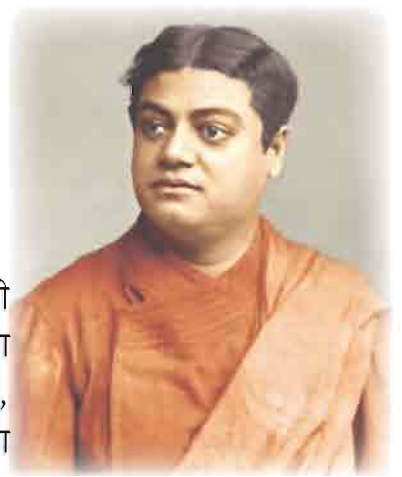
भारत आने के पूर्व ही निवेदिता ने भारतीय अवस्था तथा स्वामीजी की कार्यधारा के विषय में कुछ स्पष्ट प्रश्नों के साथ एक पत्र लिखा था। स्वामीजी ने ३० सितम्बर १८९७ के दिन स्वामी ब्रह्मानन्द को एक पत्र लिखकर निर्देश दिया था कि उन्हें क्या उत्तर दिया जाय! मार्गरेट नोबल के प्रश्नों से यह समझा जा सकता है कि वे कितना अधिक विस्तार से जाँच-पड़ताल की पक्षधर थीं और स्वामीजी के उत्तर से भी रामकृष्ण आन्दोलन के एक पर्व के उद्देश्य तथा कर्मसूची का चित्र प्राप्त होता है। स्वामीजी द्वारा भेजे गये उत्तर इस प्रकार हैं –

१. लगभग सभी शाखा-केन्द्र स्थापित किये जा चुके हैं, परन्तु अभी आन्दोलन का प्रारम्भ मात्र है।

२. अधिकांश संन्यासी शिक्षित हैं; जो नहीं हैं उन्हें भी व्यावहारिक शिक्षा दी जा रही है। परन्तु यदि लोकहित करना हो, तो पूर्ण नि:स्वार्थता की परम आवश्यकता है। उसके लिये अन्य शिक्षाओं की तुलना में आध्यात्मिक शिक्षा पर विशेष जोर दिया जाता है।

३. व्यावहारिक शिक्षकगण – हमारे पास अधिकांशत: ऐसे लोग ही आ रहे हैं, जो पहले से ही शिक्षित हैं। इस समय केवल उन लोगों को हमारी कार्यप्रणाली की शिक्षा देने तथा उनका चरित्र-निर्माण करने की जरूरत है। शिक्षा का उद्देश्य है – उनको आज्ञाकारी तथा निर्भीक बनाना; और प्रणाली है – पहले गरीबों की भौतिक सहायता करना और क्रमश: उच्चतर मानसिक स्तरों की ओर आगे बढ़ना।

कला तथा उद्योग : अर्थाभाव के कारण अपनी कार्यसूची का यह अंश अभी आरम्भ कर पाना सम्भव नहीं है। इस समय सहजतम अपनाने योग्य मार्ग यह है कि भारतवासियों को स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग करने की प्रेरणा देना और ऐसा प्रयास करना जिससे भारत में बनी हुई वस्तुओं के लिये अन्य देशों में बाजार तैयार हो। यह कार्य वे ही लोग कर सकेंगे, जो 'दलाल' श्रेणी के नहीं हैं; और साथ ही जो लाभ का सारा भाग श्रमिकों के कल्याणार्थ व्यय करेंगे।

४. देश के सभी स्थानों में तब तक भ्रमण करने की जरूरत होगी, जब तक कि 'जनता शिक्षा की ओर आकृष्ट न हो'।[१] ये भ्रमण करनेवाले शिक्षक – परिव्राजक संन्यासी – धार्मिक लोग – ये ही सर्वाधिक फलदायी होंगे।

५. सभी जातियों के बीच हमारे प्रभाव का विस्तार हो रहा है। अब तक केवल उच्च वर्णों के बीच ही कार्य हुआ है; परन्तु अकाल-राहत केन्द्रों द्वारा पूरी तौर से कार्य शुरू हो जाने के बाद से हम लोग क्रमश: निम्न वर्ण के लोगों को भी प्रभावित कर रहे हैं।

६. लगभग सभी हिन्दू हमारे कार्य का समर्थन करते हैं, परन्तु ये लोग अब भी इस प्रकार के आपसी सहयोग से चलनेवाले व्यावहारिक कार्यों के अभ्यस्त नहीं हैं।

७. हाँ, निश्चय ही हम अपनी सेवा तथा अन्य सत्कार्यों में प्रारम्भ से ही विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच भेदभाव नहीं करते।[२]

---

१ 'जब तक आम जनता शिक्षा की ओर आकृष्ट नहीं होती' – इस उक्ति का तात्पर्य यह है कि भारत की आम जनता इतनी निर्धन है कि शिक्षा की व्यवस्था होने पर भी उनके लिये यह शिक्षा ग्रहण करना असम्भव था, क्योंकि पेट पालने की चेष्टा में ही उनका सारा समय निकल जाता था। अत: स्वामीजी का कहना यह था कि – आम जनता के पास जाकर उनकी सुविधा के अनुसार उन्हें शिक्षा दी जाय। १८९४ ई. में उन्होंने अमेरिका से एक पत्र में लिखा था – "कुछ कैमरे, नक्शे, ग्लोब और थोड़े रासायनिक पदार्थ आदि की जरूरत है। फिर एक बड़ी झोपड़ी चाहिये। इसके बाद कुछ गरीबों को एकत्र कर लेना। इसके बाद उन्हें ज्योतिष, भूगोल आदि के चित्र दिखलाओ और उन्हें श्रीरामकृष्ण परमहंस के उपदेश सुनाओ। किस देश में क्या-क्या घटनाएँ हुई हैं और हो रही हैं, यह दुनिया क्या है, आदि विषयों में उनकी आँखें खुलें, ऐसी चेष्टा करो। संध्या के बाद या दोपहर में वराहनगर में जितने भी गरीब अशिक्षित लोग हों, उनके घर-घर जाओ और और उनकी आँखें खोल दो। पोथी-पत्रों की कोई जरूरत नहीं – मौखिक शिक्षा दो।"

स्वामीजी के अनेक पत्रों में जनशिक्षा की बातें हैं – अत: यहाँ अधिक उल्लेख की जरूरत नहीं है।

२. स्वामी अखण्डानन्द मुर्शिदाबाद में अकाल-सेवा का कार्य कर रहे थे और अनाथाश्रम की स्थापना की थी। निवेदिता के समान ही उन्होंने भी अवश्य यही प्रश्न किया होगा, जिसके उत्तर में स्वामीजी ने लिखा

स्वाभाविक है, निवेदिता के भारत में आने के बाद से स्वामीजी के पत्रों में निवेदिता के विद्यालय तथा सेवाकार्यों का भी थोड़ा-बहुत उल्लेख है। उनका हम यथास्थान उल्लेख करेंगे। इन दो भूमिकाओं के अतिरिक्त निवेदिता की वाग्विदग्धता से भी स्वामीजी बड़े सन्तुष्ट थे। ११ मार्च, १८९८ को स्टार थियेटर में निवेदिता का 'इंग्लैंड में भारतीय विचारों का प्रभाव' विषय पर व्याख्यान हुआ था। अपने अध्यक्षीय भाषण में स्वामीजी ने निवेदिता के बारे में कहा था, 'इंग्लैंड ने कुमारी मार्गरेट नोबल के रूप में हमें एक और उपहार भेजा है – हम इनसे बहुत कुछ अपेक्षा रखते हैं।' उनकी यह अपेक्षा निवेदिता के चरित्र से थी, परन्तु निवेदिता का व्याख्यान सुनने के बाद कदाचित् उनकी वाग्मिता से भी थी। इस व्याख्यान के बाद स्वामीजी ने तत्काल स्वामी रामकृष्णानन्द को लिखा, ''मिस नोबल सचमुच ही हमारे लिये एक रत्नप्राप्ति के समान हैं। मेरा प्रबल विश्वास है कि शीघ्र ही एक वक्ता के रूप में वे श्रीमती बेसेंट को पीछे छोड़ देंगी।'' हम देखते हैं कि स्वामीजी ने बाद में भी निवेदिता के व्याख्यानों की सफलता पर खुशी जाहिर की थी।

यहाँ पर यह बता देना उचित होगा कि एक वक्ता के रूप में निवेदिता श्रीमती बेसेंट को पीछे छोड़ जायेंगी, यह उनकी बड़ी ऊँची अपेक्षा थी, क्योंकि तत्कालीन इंग्लैंड में बेसेंट को सर्वश्रेष्ठ वक्ता माना जाता था – स्वयं स्वामीजी ने भी ऐसा ही कहा है। स्वामीजी की इस निवेदिता-प्रशस्ति में केवल शिष्या-स्नेह नहीं था, परवर्ती काल में निवेदिता ने वक्ता के रूप में काफी नाम किया था, परन्तु वे बेसेंट नहीं हो सकीं, क्योंकि प्रथमत: वे राजनैतिक कार्यों तथा लेखन में इतनी व्यस्त हो गयीं कि उन्होंने व्याख्यान को उद्देश्य नहीं बनाया, द्वितीयत: उनके व्याख्यान इतने उच्च कोटि के तथा घनीभूत विचारों से पूर्ण होते थे कि आम जनता के लिये वे बोधगम्य नहीं रह जाते थे।

यदि सम्भव हुआ, तो हम बाद में 'वाग्मी निवेदिता' विषय पर कुछ जानकारियाँ प्रस्तुत करेंगे।

स्वामीजी के विभिन्न पत्रों में दीख पड़ता है कि उन्होंने अमेरिका में निवेदिता के व्याख्यानों तथा धन-संग्रह के प्रयास की उच्च प्रशंसा की है।

निवेदिता ने भारत के कल्याण में जो विराट भूमिका ग्रहण की थी, उसे रामकृष्ण मिशन द्वारा प्रकाशित 'विवेकानन्द-जीवनी' में श्रद्धापूर्वक लिपिबद्ध किया गया है –

''इन महान हिन्दू तथा विराट आचार्य ने, भारत में आनेवाले पाश्चात्य शिष्यों को शिक्षा देने का कार्य ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना था। ... पाश्चात्य शिष्यों में से उन्होंने एक व्यक्ति को विशेष रूप से चुन लिया था, जिनसे उन्हें अत्यन्त आशा तथा विश्वास था; इसीलिये स्वामीजी के आलोकप्रद चर्चाओं का सतत प्रवाह उन शिष्या की ओर ही सर्वाधिक प्रवाहित होता था। उस दौरान यदि वे भगिनी निवेदिता के गठन के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं करते, तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि उनका समय व्यर्थ गया है।'' **(क्रमश:)**

(१० अक्तूबर, १८९७) – ''तुम्हें मुसलमान बालकों को भी लेना होगा और ऐसी शिक्षा देनी होगी, जिससे वे नीतिमान, पुरुषार्थी तथा परोपकारी स्वभाव के हों। इसी का नाम धर्म है। अपने जटिल दार्शनिक विचारों को थोड़े समय के लिए दूर रखो।'' अकाल-राहत के समय धर्म का विचार क्यों – यह बात आज चाहे जितनी भी हास्यास्पद तथा अरुचिकर लगे, पर जिन दिनों की चर्चा हो रही है, उन दिनों ऐसी बात नहीं थी। उन दिनों भारत के लिये यह प्रश्न इसलिये अति महत्त्वपूर्ण था, क्योंकि जब ईसाई मिशनरी के लोग अकाल के सस्ते बाजार में हजारों की संख्या में ईसाई खरीद रहे थे (अकाल की विवशता का लाभ उठाकर हजारों की संख्या में धर्मान्तरण कर रहे थे।) भारत के उन दुर्दिनों के दौरान धर्म की दया तथा भूख के विकट स्वरूप के समक्ष मानवता मलिन हो गयी थी। इस पृष्ठभूमि में विवेकानन्द की उदारता शुभ्र ज्योति के समान थी।

जय हो माँ सारदे

कमलसिंह सोलंकी 'कमल'

जय हो जगतारिणी जय हो माँ सारदे,
माता अपने भक्तों का जीवन सुधार दे !
दीनों, अकिंचनों को ममतामयी प्यार दे !!
रामकृष्ण देव की चिरसंगिनी हो,
नारायण ब्रह्म की अनुरागिनी हो !
भटके हुए को माँ मुक्ति का द्वार दे !!
आदिशक्ति देवी कालीस्वरूपिणी हो,
जगत जननी माता कपालमोचनी हो !
शरण में आये माँ भक्ति अपार दे !!
त्रेता में जानकीजी द्वापर में योगमाया,
कलि में अवतीर्ण हुईं सगुण दिव्य काया !
सिर पर रख हाथ माँ 'कमल' को दुलार दे !!
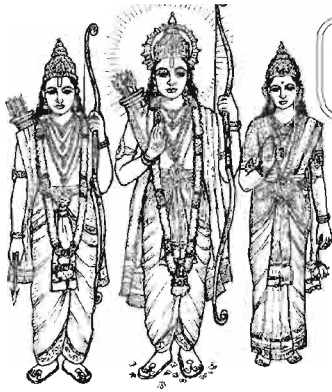
यथार्थ शरणागति का स्वरूप (२/३)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(पं रामकिंकर महाराज श्रीरामचरितमानस के अप्रतिम विलक्षण व्याख्याकार थे। रामचरितमानस में रस है, इसे सभी जानते हैं और कहते हैं, किन्तु रामचरितमानस में रहस्य है, इसके उद्घाटक 'युगतुलसी' की उपाधि से विभूषित श्रीरामकिंकर जी महाराज थे। उन्होंने यह प्रवचन रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के पावन प्रांगण में १९९२ में विवेकानन्द जयन्ती के उपलक्ष्य में दिया था। 'विवेक-ज्योति' हेतु इसका टेप से अनुलिखन स्वर्गीय श्री राजेन्द्र तिवारी जी और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है। – सं.)

भगवान की उदारता को प्रमाण पत्र मानना भूल है। वह तो ईश्वर की करुणा होती है, वात्सल्य होता है। संसार में एक दृष्टान्त है। एक बच्चा चलते हुए गिर पड़े और माँ आकर उसका पीठ ठोककर कहे कि वाह ! तुम बड़े वीर हो, कितने बहादुर हो ! तो क्या आप उसे प्रमाण पत्र मान लेंगे कि माँ ने जब कह दिया, तो सच ही है। माँ तो कभी-कभी यह भी पूछ देती है कि चोट तुम्हें थोड़े ही आई है, चोट तो उसी को आई है, जिस पर तुम गिरे हो। यह तो माँ का वात्सल्य बोल रहा है। वैसे ही जब ईश्वर अभिनय करता है, तो अभिनेता की तो विशेषता ही यही है कि जिस समय वह जो पाठ कर रहा है, उसी को दुहरा रहा है। तब उसके सामने जो भक्त है, वही उसको अत्यन्त प्रिय है। उसे वह हृदय से लगा लेता है।

इस आनन्द की अनुभूति भी वही है। जब वे लंका-विजय करके आए, तो अयोध्या के सारे नागरिक प्रभु से मिलने के लिये व्यग्र हैं –

प्रेमातुर सब लोग निहारी।

कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी।। ७/५/४

तब प्रभु ने क्या किया ?

अमित रूप प्रगटे तेहि काला।। ७/५/५

जितने अयोध्या के नागरिक थे, उतने रूप बना लिये। प्रत्येक व्यक्ति से मिल रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति यह सोचकर बड़ा गद्गद है कि वाह, प्रभु ने मुझे कितना महत्व दिया! वे पुष्पक विमान से उतर कर आए, तो सबसे पहले मेरे पास ही आये। प्रभु तो सबके पास आए, पर सभी को यही लगा कि भगवान सबसे पहले मेरे पास आए। गोस्वामीजी ने कहा –

छन महिं सबहि मिले भगवाना। ७/५/७

पर आनन्द क्या था? बोले –

उमा मरम यह काहुँ न जाना।। ७/५/७

अगर अयोध्यावासी अगल-बगल में देख लेते, तो भ्रम हो जाता कि ये असली भगवान हैं कि वे असली भगवान हैं। किन्तु सब अपने-अपने भगवान में डूबे हुए हैं। ऐसी स्थिति में ईश्वर अपने अभिनय का पूरा प्रदर्शन करते हुए, उसका पूरा निर्वाह करते हुए भी 'आपु न होई सोई' वह स्वयं वैसा नहीं हो जाता है। वह स्वयं कैसा विलक्षण अभिनय करता है, उसका अपना एक आनन्द है। इस दृष्टि से वह जो निर्गुण-निराकार तत्त्व है, वह जब कभी सगुण-साकार रूप में देश में, काल में दिखाई देते हुए भी अखण्ड ही रहता है।

माता कौशल्याजी को भगवान पहले देश और काल में दिखाई पड़े। बाद में जब पूजा कर रही थीं, तब अपना अखंड रूप भगवान ने दिखाया –

दिखरावा मातहि निज अदभुत रूप अखंड।

रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मण्ड।।

ईश्वर खण्ड में दिखाई देने पर भी सदा अखण्ड में ही रहते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं कि रामनवमी कि दिन मध्याह्न में श्रीराम का जन्म हुआ। अब सबसे अधिक उलाहना किसको मिला? रात्रि ने जब देखा कि सूर्य भगवान तो एक महीने तक मुझे समय ही नहीं दे रहे हैं। वहाँ गोस्वामीजी ने कितनी बढ़िया बात कही, 'मरम न जाने कोय'। कथा में अगर आपको याद आ जाय कि कितनी देर कथा हुई, तो आप समझ लीजिए कि कथा का अवतार नहीं हुआ। अवतार होगा, तो यह निश्चित समझिए कि समय का भान नहीं रहेगा। वैसे भी जब कोई आनन्द का अवसर होता है, तो क्या आपको समय का ध्यान रहता है? दुख आता

है, तो थोड़ा-सा समय भी बहुत बड़ा लगता है और आनन्द में कई घंटे व्यतीत हो जायँ, तो भी वह छोटा ही लगता है।

कल रात्रि में विनोदमय चर्चा चल रही थी कि भई, कई तरह के श्रोता होते हैं। एक श्रोता तो वे होते हैं, जो नदी के किनारे जाकर, गहराई में डूबकर पूरे शरीर को डुबो दिया। एक होते हैं कि कहीं डूब न जायँ, तो किनारे बैठकर लोटे से ही नहा लेते हैं। ये घड़ी से सुनने वाले जो श्रोता हैं, वे लोटा से नहाने वाले हैं। उसका अभिप्राय है कि वे लोग गहराई में उतरने से डरते हैं।

एक सज्जन ने बहुत बढ़िया बात कही, बोले, कई लोग तो चम्मच से ही नहा लेते हैं। मैंने कहा बिल्कुल ठीक है। जो कथा में आते हैं और वन्दना सुनकर सोने लगते हैं, तो समझ लीजिए कि चम्मच से स्नान हो गया। स्नान होने के बाद बेचारे जब कथा समाप्त हुई तो उठकर चले गये। इसका अर्थ है कि काल को तो जीवन में निरन्तर महत्त्व दीजिए, पर ऐसा भी काल आवे जब काल का भान ही न रहे, तब वह व्यक्ति के समझ से परे हो जाता है। इसीलिये तो कहा – 'मरम न जानै कोय'।

बड़े रहस्य की बात है। काल की स्थिति समाप्त हो जाय, वही श्रीराम का अवतार है। एक महीने का दिन हो गया। अयोध्या निवासियों को नहीं लगा कि एक महीने का दिन हो गया है। सूर्य एक महीने से रुका हुआ है। गोस्वामीजी भावमयी बड़ी मधुर कल्पना करते हैं। वे कहते हैं, जब उत्सव मनाया जा रहा था, तो अबीर आदि उड़ाने से दिन में कुछ अँधेरा-सा छा गया। रात्रि प्रभु के पास उलाहना लेकर आती है कि क्या आपके जन्म लेने के साथ ही मेरा समय छीनकर मेरे साथ अन्याय होगा? ठीक है, आपने मध्य दिन में जन्म लिया, पर उसके पश्चात् मुझे भी तो अवसर मिलना चाहिये, यह कैसा? तब गोस्वामीजी ने कहा कि वह जो रात्रि थी, वह संध्या बन गई –

देखि भानु जनु मन सकुचानी।
तदपि बनी संध्या अनुमानी।।
अगर धूप बहु जनु अँधियारी।
उड़इ अबीर मनहुँ अरुनारी।।
मंदिर मनि समूह जनु तारा।
नृप गृह कलस सो इंदु उदारा।।
भवन बेदधुनि अति मृदु बानी।
जनु खग मुखर समयँ जानु सानी।।
कौतुक देखि पतंग भुलाना।
एक मास तेइँ जात न जाना।। १/१९४/४-८

इसका सांकेतिक अर्थ यह है कि संध्या प्रभु के पास आ गई। मध्य दिन में भी एक संध्या है। प्रात:काल वाली संध्या और सायंकाल वाली संध्या तो हम सबको दिखाई देती है, पर मध्य दिन की संध्या सभी नहीं जान पाते। संध्या प्रभु का दर्शन करती है, उस उत्सव में सम्मिलित होती है। इसका अभिप्राय है कि हमारे अन्त:करण में एक ओर तो मध्याह्न का पूर्ण प्रकाश हो और उसके साथ-साथ संध्या भी हो। उस संधिवेला की सार्थकता है। एक रात्रि वह है, जो व्यक्ति को सुलाती है, जिसकी चर्चा हम अभी करेंगे।

गोस्वामीजी कहते हैं, लंका में विभीषण सो रहे हैं। रावण के लिये कहते हैं कि रावण मूर्तिमान मोह है। जो भी लंका में दिखाई दे रहा है, चाहे जागता दिखाई दे, चाहे सोता, वहाँ तो सब सोते ही रहते हैं –

मोह निसाँ सबु सोवनिहारा।
देखिअ सपन अनेक प्रकारा।। २/९२/२

लंका मोह की नगरी है और वहाँ रहनेवाले मोह की रात्रि में, संसार के जीव सो रहे हैं। पूछा गया कि महाराज, हम कैसे मान लें? इतना बड़ा संसार है, यहाँ इतने कर्म हो रहे हैं, तो आप कैसे कहते हैं कि मोह की रात्रि में सब सो रहे हैं? उन्होंने कहा – क्या स्वप्न में सारी क्रियाएँ होते हुए दिखाई नहीं देती हैं? जब स्वप्न व्यक्ति देख रहा है, तब तो उसको सब सत्य ही प्रतीत हो रहा है।

इसका सांकेतिक अर्थ यह है कि वह वृत्ति जब भगवान की ओर अभिमुख हो जाती है, जब उसको पीड़ा होती है कि भगवान प्रकाश में ही जन्म लेते हैं, अवतार लेते हैं, प्राप्त होते हैं, तब मानो अंधकार संध्या भी अपने आपको सार्थक बनाने के लिये भगवान की ओर आती है, भगवान से मिलती है और भगवान से कहती है –

तदपि बनी संध्या अनुमानी। १/१९४/४

संध्या के रूप में चुपचाप आकर उसने प्रभु का दर्शन किया। इसलिये वह संधि वेला है। जिस संधि वेला में ईश्वर व्यक्ति हो जाय, वह संधि वेला धन्य है। संध्या का सबसे बड़ा सदुपयोग यह है कि हम अब संसार का काम बन्द कर दें। तब क्या करें? इसका अभिप्राय यह है कि उस समय

हमारे अन्त:करण में ईश्वर प्रगट हों, चाहे भाव रूप में, चाहे जिस रूप में हो, हम ईश्वर का दर्शन करें। यह संध्या लंका की संध्या से भिन्न थी।

अयोध्या की संध्या में भी अनर्थ कब हो गया? गोस्वामीजी ने लिखा कि जब महाराज श्रीदशरथ ने यह निर्णय लिया कि कल राम को राज्य सिंहासन पर बैठायेंगे। उन्होंने गुरु वशिष्ठ से कहा है कि आप राम को उपदेश दीजिए कि वह सिंहासन पर बैठने के पहले किस प्रकार से जीवन व्यतीत करें। मान्यता यह है कि जब कोई व्यक्ति सिंहासन या कोई पद स्वीकार करता है, तो उसे उस वस्तु को ग्रहण करने के लिये पहले से ही अपने आपको प्रस्तुत करना चाहिये । गुरु वशिष्ठ ने जाकर श्रीराम से कहा कि राम! तुम्हारे पिताजी तुम्हें राज्य देने वाले हैं, तो तुम एक काम करो। क्या? बोले –

राम करहु सब संजम आजू। २/९/३

तुम आज पूर्ण संयम का पालन करना। गुरु वशिष्ठ मन ही मन खूब हँसे कि अब ईश्वर को भी संयम का उपदेश देना पड़ रहा है। इसलिये गुरु वशिष्ठ भगवान राम को केवल संयम का उपदेश ही नहीं देते, राज्याभिषेक के बाद भगवान राम ने उनका चरण धोया तो धुलवा भी लिया। गुरुजी का चरण धोकर पी लिया, तो भी आनन्द से देखते रहे। सब हो गया, तो उन्होंने सबको चले जाने का आदेश दे दिया और एकान्त में प्रभु से मुस्कराकर यही कहा कि अभिनेता तो तुम अद्वितीय हो, पर मैं तुम से आगे ही हूँ। क्योंकि तुम तो ईश्वर हो, इसलिये शिष्य का अभिनय बहुत अच्छा कर रहे हो, पर मेरे साहस की तो कल्पना करो, जो जानते हुए भी कि तुम ईश्वर हो, मैं तुम्हें उपदेश देता रहा, तुम्हें शिक्षा देता रहा, चरण धुलवाता रहा, तुम्हें चरणोदक पीते हुए देखा और मैंने नहीं रोका। मैंने जब गुरु की भूमिका स्वीकार की, तो वैसा अभिनय करके दिखाया।

जब गुरु वशिष्ठ भगवान राम से कहते हैं, तुम संयम करो, तो जरा सोचिए, क्या ईश्वर को भी संयम करना है? श्रीराम का तो कहना ही क्या, वे तो संयम के मूर्तिमान रूप हैं। पर ये महोदय, जो राम को राज्य देने वाले हैं, क्या उनको गुरु के उपदेश की, संयम की आवश्यकता नहीं है? वही भूल दशरथ जी से हो गई। उन्होंने गुरुजी से कहा कि राम को उपदेश दीजिए कि वे संयम करें और उन्होंने स्वयं अपने लिये असंयम का मार्ग चुना। एक संध्या वह थी, जब भगवान अयोध्या में आए और दूसरी संध्या वह थी, जब भगवान का वनवास हुआ। गोस्वामीजी ने कहा –

साँझ समय सानन्द नृपु गयउ कैकई गेहँ। २/२४

इस संध्या ने ही तो सारा अनर्थ कर दिया। अगर वे रात्रि को कहीं संयम से व्यतीत करते, तो यह अनर्थ नहीं होता। एक ऐसी स्थिति है, जहाँ व्यक्ति ब्रह्मचर्य में स्थित रहता है और उस संध्या का सर्वश्रेष्ठ उपयोग होता है। गोस्वामीजी बड़ी व्यंग्य भरी भाषा में कहते हैं, दशमुख की संध्या तो अत्यन्त निकृष्ट है, पर दशरथ के जीवन में भी ऐसी संध्या आ सकती है, जब वे कैकेयी के महल में गये और कैकेयी से मिलकर जिस भाषा का प्रयोग किया, वह भाषा यही तो थी –

कहु केहि रंकहु करौं नरेसू।
कहु केहि नृपहि निकारौं देसू।।
सकउँ तोर अरि अमरउ मारी
काह कीट बपुरे नर नारी।।
जानसि मोर सुभाउ बरोरू।
मनु तव आनन चन्द चकोरू।। २/२५/२-४

कैकेयी! तुम तो जानती हो, तुम्हारा मुख चन्द्रमा है, और मैं चकोर हूँ। मानो नई बात हो गई। भगवान राम वन क्यों चले गये। बोले – मैं तो समझता था कि दशरथजी तो मेरे ही मुखचन्द्र के चकोर हैं, पर ये तो कामचन्द्र के भी चकोर हैं और रामचन्द्र के भी चकोर हैं। ठीक है। काम और राम तो बिल्कुल मिलते-जुलते शब्द हैं। दोनों के रूप-रंग भी बहुत मिलते-जुलते हैं। दोनों में बहुत समानता है, यह शास्त्रों ने वर्णन किया है। काम भी श्याम वर्ण का है, राम भी श्याम वर्ण के हैं। काम भी धनुषबाण-धारी है, राम भी धनुषबाण-धारी हैं। बड़ा भ्रम उत्पन्न करने वाला साम्य है। **(क्रमश:)**

सारगाछी की स्मृतियाँ (५५)

स्वामी सुहितानन्द

(स्वामी सुहितानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के महासचिव हैं। महाराजजी जगजननी श्रीमाँ सारदा के शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज के अनन्य निष्ठावान सेवक थे। उन्होंने समय-समय पर महाराजजी के साथ हुए वार्तालापों के कुछ अंश अपनी डायरी में गोपनीय ढंग से लिखकर रखा था, जो साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी है। 'उद्बोधन' बँगला मासिक पत्रिका में यह मई-२०१२ से अनवरत प्रकाशित हो रहा है। पूज्य महासचिव महाराज की अनुमति से इसका अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और वाराणसी के रामकुमार गौड़ ने किया है, जिसे 'विवेक-ज्योति' में क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – सं.)

स्वामी प्रेमेशानन्द

(४४)

२७-११-१९६०

महाराज – निष्काम भाव से कार्य करूँगा – केवल ऐसा कहने से ही तो कार्य नहीं हो जाता। पहले देखो, मैं निष्काम भाव से क्यों करूगाँ? थोड़ा-कुछ तो चाहिए। इसलिए परमात्मा पर आकर्षण का अनुभव करना चाहिए। मेरे साथ परमात्मा का क्या सम्बन्ध है तथा देह-मन-बुद्धि के साथ मेरा क्या सम्बन्ध है, उसे जानना चाहिए।

प्रश्न – निद्रा क्या है?

महाराज – निद्रा के समय कैसा अनुभव होता है? अन्नमय, प्राणमय कोष तो ठीक ही रहता है, केवल मन को उदानवायु के ऊपर ले जाकर बुद्धि में प्रवेश करा देते हैं। इसके परिणामस्वरूप सभी विषयों के रहने पर भी उनका कार्य कर पाना सम्भव नहीं हो पाता।

मैं सामने बैठा हूँ। मेरे सामने बुद्धि विचरण कर रही है। उसमें से दो चीजें बाहर निकलीं – प्राण और मन। प्राण ने जाकर शरीर को तैयार किया और मन वहाँ की खबर ला-लाकर बुद्धि को देने लगा। बुद्धि उसके पुराने रिकार्ड से मिला करके, कौन-सा ग्राह्य और कौन-सा त्याज्य है, उसे निश्चित करने लगी। यह हुआ यंत्र के समान कार्य। किन्तु इसे समझने के लिये काष्ठवत् स्थिर बैठना चाहिए और ''नर्व्स ऑफ स्टील एंड मसल्स ऑफ आयरन'' (लौहवत् शिराएँ और फौलाद के समान माँसपेशियों की आवश्यकता है।) इसीलिए तो प्राचीनकाल में क्षत्रिय लोग इस ब्रह्मविद्या का अभ्यास करते थे। अगर माता-पिता संयमित जीवन व्यतीत करें, जप-ध्यान ठीक रख सकें, अच्छा भोजन हो, तो ब्रह्मविद्या क्यों नहीं प्राप्त होगी? फिर उनके सभी बच्चे महान तपस्वी होकर जन्म लेंगे।

प्रश्न – हृदय और बुद्धि में क्या भेद है?

महाराज – हृदय कहने से छाती का बोध नहीं होता है, बुद्धि का बोध होता है।

२८-११-१९६०

महाराज – चैतन्यदेव ने तो कीर्तन करके मतवाला बना दिया था। 'रथाग्रे नर्तनम्' – रथ के आगे नाचना, वह कैसी अद्भुत बात थी ! सभी लोग पागल हो जाते थे। उनकी ऊँचाई चार हाथ थी। उस पर अत्यन्त सुन्दर मुखमंडल। वह मुखाकृति देखने से ही प्रेमानुराग होता था। वैष्णव लोग गाते हैं – 'युवती धर्म कैसे रहे।' श्याम के एक-एक अंग की ऐसी सुन्दर छवि नेत्रों में नहीं समाती।'' किशोर आयु में जब काम-भाव नहीं रहता और बाल्यकाल की चपलता नहीं रहती, उस समय की छवि अद्भुत सुन्दर दिखाई पड़ती है, इसीलिए तो वैष्णव लोगों में किशोरी-भजन का इतना प्रचलन है।

तुम ठाकुर का चिन्तन क्यों नहीं करते? साधारणतया मनुष्य को रूप अच्छा लगता है। तो ठाकुर के केश, नेत्रों की मुस्कान, तत्पश्चात् मुख, गला, गले की हड्डी, वक्ष, हाथ-पैर अतिशय सुन्दर हैं। देखोगे, चिन्तन करते-करते समय बीत गया है।

प्रश्न – दूसरों के दुखों से व्यथित होकर यदि केवल कर्म ही करूँ, तो उससे कोई हानि होगी?

महाराज – जब तुम्हारे सामने कोई दुखी व्यक्ति आ जाय, तो यथासाध्य यत्नपूर्वक सेवा करना। तदुपरान्त ऐसा सोचना – ऐसा कष्ट तो सतयुग, त्रेता, द्वापर सभी युगों में था तथा सारे संसार में कितने ही लोग इस तरह दुख-कष्ट पा रहे हैं। अर्थात् जिससे दुखियों की चिन्ता में मन की शान्ति नष्ट न हो, जिससे ईश्वरचिन्तन भंग न हो, उसके लिए विश्लेषण करना चाहिए।

मन की स्थिरता कर्म में परिपक्व होती है। कर्म के दौरान धक्का-मुक्की खाकर भी यदि मन की स्थिरता

बनी रहे, तभी समझना होगा कि सब ठीक चल रहा है। अत्याचार करके, डाँट-फटकार और धमकी देकर कार्य सम्पन्न तो कर लिया जाता है, किन्तु उसका परिणाम स्थायी नहीं होता। संन्यासी का भी नियम रहता है न, किन्तु समझकर करने से कुछ विलम्ब होने पर भी फल स्थायी होता है। अर्थात् संन्यासी ऐसा कुछ चिन्तन नहीं करेगा, जिससे उसके ध्यान में बाधा पड़े। देखो न, गीता के श्लोक में कहा गया है – काष्ठवत् अचल रहकर मन को बाहर से खींचकर अन्तर्मुखी करो। संन्यासी के जीवन में ध्यान नहीं रहने से उसका जीवन बड़े दुख, कष्ट और हताशा का हो जाता है। दशों भूतों में दसों प्रकार की झंझटों में पड़कर उसे नाचना ही पड़ेगा। एक दृष्टिकोण से देखो, तो सभी कार्यों से ही तुम ईश्वर के साथ जुड़ने का प्रयास कर रहे हो। अपना स्वरूप जानने के लिए ज्ञान-विचार कर रहे हो, भक्ति से ईश्वर से जुड़ रहे हो और योग में तो कुछ कहना ही नहीं है। इसीलिए कहता हूँ, संन्यासी होने के लिये पहले अनुत्तेजित बने रहने का अभ्यास करना होगा।

प्रश्न – सभी परिस्थितियों में मन की शान्ति को नष्ट नहीं होने देना है, यही तो?

महाराज – नहीं, शान्ति नहीं, स्थिरता। शान्ति एक प्रकार की ऐसी होती है, चुपचाप बैठे रहे, किन्तु संसार जलकर राख हो जाने पर भी वह झंझट में नहीं पड़ेगा, केवल अपनी थोड़ी सुविधा होने से ही हो गया। यह बड़ी भयानक अवस्था है। फिर तमोगुण आता है। सभी प्रकार की अनुकूल-प्रतिकूल स्थितियों में अनुद्विग्न रहने का अभ्यास करते-करते, तब वह स्थिर होगा।

ऐसे अनुद्विग्न बने रहने के लिये सूक्ष्म बुद्धि और तीक्ष्ण विचार चाहिए। मैं कौन हूँ, इसे जानना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य एक-एक यन्त्र है, तीन तीलियों अर्थात् सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण का खेल है। सबके पीछे वही चैतन्य सत्ता है – 'प्रकृते: क्रियमाणानि।' इस तत्त्व को नहीं जानने से अनुद्विग्न नहीं रहा जा सकता है। प्रत्येक के पीछे भगवान हैं। उन्होंने लीला के बहाने ऐसा रूप धारण किया है, इसका उपभोग कर रहे हैं, फिर जब उनकी इच्छा होगी, तब वे अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाएँगे। मनुष्य में अनन्त शक्ति है, इच्छा होने से ही वे ऊपर उठ जाएँगे। मैं केवल पथ की बाधाओं को हटाकर उन्हें उत्प्रेरित करने हेतु सेवा कर सकता हूँ – बस, इतना ही !

गृहस्थ लोग भी सर्वदा नाम-जप, स्मरण-मनन करते हैं। कई लोग मरते समय 'हरि-हरि' कहते हुए मरते हैं, वैरागी भी ऐसा करते हैं। किन्तु निदिध्यासन नहीं करने और प्रत्याहार की पद्धति नहीं जानने से, मन को कहाँ से उठाकर कहाँ रखना है, क्यों रखना है, किस तरह रखना है, यह सब पद्धति नहीं जानने से उनका पतन हो जाता है। अन्त में वे शिष्याएँ बनाते हैं। फिर, सम्भवत: 'हरि-हरि' कहते हुए ही मरें। लेकिन त्यागी को तो हर कदम पर संकट है। सर्वदा ज्ञान-खड्ग को हाथ में लेकर सचेत नहीं रहने से किसी भी दुर्बल क्षण में वह कोई कुत्सित कार्य कर सकता है। **(क्रमशः)**

मानवता की ओर

भानुदत्त त्रिपाठी, मधुरेश

सबको तभी सुधार सको, जब खुद को स्वयं सुधारो तुम।
जीवन का जो परम तथ्य है, उसे सहज स्वीकारो तुम।।

यह जग है ईश्वर की लीला, उसका ही सब खेल यहाँ,
उसकी ही इच्छा से होता, सबका सबसे मेल यहाँ,
आत्म धर्म परमात्म धर्म को ही जीवन में धारो तुम।
सबको तभी सुधार सको, जब खुद को स्वयं सुधारो तुम।।

जब तक जले न तेल दीप का, तब तक उल्लास कहाँ,
जिसने जीवन जिया दिया-सम, उसका सही विकास यहाँ,
सबके घर भवनों से पहले, अपना भवन बुहारो तुम।
सबको तभी सुधार सको, जब खुद को स्वयं सुधारो तुम।।

सत्कर्मों की ज्योति जगाकर मानवता की ओर चलो,
'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' इस साँचे में नहीं ढलो,
पहले स्वयं तरो भवसागर, तब अपरों को तारो तुम।
सबको तभी सुधार सको, जब खुद को स्वयं सुधारो तुम।।

यदि मन में मद-मत्सर-ईर्ष्या घोर मोह, अभिमान भरा,
तो चाहे कोई हो, उसमें है अनर्थ अज्ञान भरा,
सत्य धर्म की राह छोड़कर गुरुडम नहीं सँवारो तुम।
सबको तभी सुधार सको, जब खुद को स्वयं सुधारो तुम।।

रामकृष्ण संघ के चार चरण

स्वामी इष्टप्रेमानन्द

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द सोसायटी, जमशेदपुर

भारत का इतिहास ऋषि-मुनियों का इतिहास रहा है। यह देखा गया है कि जब कभी किसी बाह्यशक्ति ने भारतीय सभ्यता को क्षति पहुँचाई है, तभी भारत की नैसर्गिक श्रद्धा और संस्कृति की रक्षा के लिये धर्म-संस्थापकों का आविर्भाव हुआ है। ठीक १९वीं शताब्दी के आरम्भ में भारत में अंग्रेजी शिक्षा के विस्तार से भारतीय आस्था पुन: दुर्बल होती गयी। अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों की स्वधर्म और संस्कृति में अनास्था होने लगी। सनातन धर्म से उनका विश्वास उठने लगा। उनको ऐसा लगने लगा कि हिन्दू धर्म अन्धविश्वास तथा व्यर्थ के कर्मकाण्डों से भरा है। किसी में यह जिज्ञासा नहीं हुई कि अपने पूर्वजों की महान संस्कृति का अध्ययन कर इसमें निहित दर्शन का अनुसन्धान करें।

ऐसी विषम परिस्थिति में १९३६ में बंगाल के हुगली जिले के कामारपुकुर नामक ग्राम में श्रीरामकृष्ण का जन्म एक निर्धन तथा निष्ठावान ब्राह्मण परिवार में हुआ। वे बड़े होकर अपने बड़े भाई के साथ कोलकाता आए। कोलकाता के दक्षिणेश्वर में काली मन्दिर के वे पुजारी बन गये। उनकी कठोर साधना और आकुल प्रार्थना से प्रस्तर की काली प्रतिमा मानो जाग्रत हो उठी।

श्रीरामकृष्ण इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने कठोर साधना से सभी धर्मों की सत्यता की उपलब्धि की। इस प्रकार युग-युग में विभिन्न देशों के साधक जिन साधनाओं में सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं, वे सभी श्रीरामकृष्ण में एकाकार हो गईं। उसके बाद उनके भावी संघ-निर्माण में निर्दिष्ट चयनित शिष्य नरेन्द्र आदि एक-एक कर उनके पास दक्षिणेश्वर में आने लगे। यहीं से युवा-शिष्यों का भावी संघ-प्रशिक्षण प्रारम्भ हुआ। श्रीरामकृष्ण देव ने स्वयं युवकों को साधना और विभिन्न व्यावहारिक उपदेश देते थे। कैसे रामकृष्ण संघ विभिन्न चरणों से गुजरता हुआ, अपने उत्तुंग शिखर पर पहुँचता है, यही हमारा विवेच्य विषय है।

रामकृष्ण भावधारा का प्रथम चरण (१८७२-१९०५)

१. रामकृष्ण संघ का प्रारम्भ – सन् १८८५ के अप्रैल मास में श्रीरामकृष्ण को गले का रोग आरम्भ हुआ। काफी चिकित्सा के बाद भी रोग को ठीक न होते देख चिकित्सा-सेवा की सुविधा हेतु उन्हें २ अक्टूबर, १८८५ में श्यामपुकुर तथा कुछ ही दिन बाद काशीपुर लाया गया। गृहस्थ-भक्त तथा युवक-भक्तों में कोई-कोई वहीं रहते और कोई बीच-बीच में घर से आकर श्रीरामकृष्ण की सेवा करते थे। उसी समय श्रीरामकृष्ण चयनित युवक-भक्तों में त्याग का भाव जाग्रत कर तपस्या, शास्त्र-चर्चा तथा उपदेश द्वारा अपने भावी संघ के निर्माण में लग गए।

जब एक दिन युवक नरेन्द्र ने श्रीरामकृष्ण देव से आग्रह किया कि वे शुकदेव की तरह रात-दिन निर्विकल्प समाधि में रहना चाहते हैं, तब श्रीरामकृष्ण देव ने झिड़कते हुए कहा था – छि: ! तू इतना छोटा विचार रखता है? मैं तो चाहता था कि तू वट-वृक्ष बनेगा, जिसकी छाया में बहुत से लोग आश्रय लेंगे।

श्रीरामकृष्ण देव ने अपनी महासमाधि के कुछ दिन पूर्व नरेन्द्र को अपनी सम्पूर्ण शक्ति देते हुए कहा, ''देख नरेन, तेरे हाथों में इन सबको सौंप कर जाता हूँ। इन्हें तुम खूब प्रेम करना, जिससे ये पुन: घर नहीं लौटकर एक ही स्थान में रहकर साधन-भजन में मन लगा सकें, ऐसी व्यवस्था करना।'' इस प्रकार उन्होंने नरेन्द्र को नायक बनाकर विशेष रूप से प्रशिक्षित किया। इतना कहकर ही वे नहीं रुके। बल्कि इन लोगों के जाति-भेद को दूर करने के लिये एक दिन उन्होंने सबको जाति-वर्ण का विचार न कर सबके घर पर भिक्षा के लिये भेजा। किसी दूसरे दिन इन अन्तरंग शिष्यों को त्याग का ज्वलन्त प्रतीकस्वरूप गैरिक वस्त्र प्रदान किया। इस प्रकार युवा-शिष्यों को संन्यास-व्रत में दीक्षित कर श्रीरामकृष्ण ने स्वयं ही नरेन्द्रनाथ के नेतृत्व में काशीपुर के उद्यान में रामकृष्ण संघ का आरम्भ किया।

श्रीरामकृष्ण का लीला-संवरण – १६ अगस्त, १८८६ ई. को श्रीरामकृष्ण देव ने अपनी मानव-लीला संवरण कर ली। काशीपुर उद्यान की किराये की अवधि समाप्तप्राय हो गई थी, इसलिए उसे छोड़ना था। उसके बाद श्रीरामकृष्ण के

गृही-शिष्य बलराम बसु श्रीमाँ सारदा को अपने घर ले गये। इसके कुछ दिन बाद श्रीमाँ वृन्दावन की यात्रा में चली गयीं। काली, लाटू और योगीन भी उनके साथ जाकर तपस्या में रत हो गये। वयस्क भक्तों के परामर्श पर कुछ बालक-भक्त अपने-अपने घरों को लौटकर अध्ययन करने लगे।

२. वराहनगर का प्रथम रामकृष्ण मठ – श्रीरामकृष्ण ने अपने युवक-भक्तों में जो आध्यात्मिकता का बीजारोपण किया था, उसे पूर्ण करने के लिये त्यागी-युवक कृत संकल्प थे। एक रात श्रीरामकृष्ण के गृही-शिष्य सुरेन्द्र मित्र ध्यान कर रहे थे, तभी ठाकुर ने उन्हें दर्शन देकर कहा, 'तुम यहाँ ध्यान कर रहे हो और मेरे लड़के इधर-उधर भटक रहे हैं। पहले उनकी व्यवस्था करो।'' इतना सुनते ही सुरेन्द्र ने नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) के पास जाकर कहा – मैं जितने रुपये ठाकुर-सेवा के लिए पहले देता था, उतने अभी भी दूँगा, तुम सब युवकों को एकत्र कर उनकी आवास की व्यवस्था करो। उसके बाद वराहनगर अंचल में एक खण्डहर मकान किराये पर लिया गया। नरेन्द्र की प्रेरणा से सभी त्यागी युवक एक-एक कर आने लगे। बड़े गोपाल मठ में आनेवालों में पहले सदस्य थे। उसके बाद तारकनाथ तथा कुछ महीने बाद काली (स्वामी अभेदानन्द) और राखाल (स्वामी ब्रह्मानन्द) भी आ गये। नरेन्द्र, शशी (स्वामी रामकृष्णानन्द), शरत (स्वामी सारदानन्द) आदि हमेशा मठ में आते-जाते रहते थे। एक ताम्रपात्र में ठाकुर के अस्थि-अवशेषों की स्थापना कर जीवन्तरूप में उनकी नित्य पूजा होने लगी।

(क) आँटपुर की ऐतिहासिक घटना – बाबूराम (स्वामी प्रेमानन्द) के पैतृक गाँव आँटपुर की एक घटना से इन नव-युवकों में संघबद्ध होने का संकल्प सुदृढ़ हुआ। बाबूराम की माता मातंगिनी देवी के आमन्त्रण पर नरेन्द्र तथा दूसरे गुरुभाई गाते-बजाते आनन्द के साथ आँटपुर गये। गाँव के हरियाली भरे निर्जन परिवेश में इस भक्त-परिवार में स्वाधीनतापूर्वक आहार-विहार का सुअवसर पाकर सबने ईश्वर-चिन्तन और आराधना में अपना मन लगाया। नरेन्द्र के नेतृत्व में त्यागी-युवक वहाँ श्रीरामकृष्ण के प्रेम, आदर्श, शास्त्रों की व्याख्या, स्तुति-भजन और कीर्तन करते रहे।

इसी बीच २४ दिसम्बर की रात की एक विलक्षण घटना रामकृष्ण संघ के इतिहास में चिरस्मरणीय हो गयी। सन्ध्या के बाद युवकगण धुनी जलाकर प्रगाढ़ ध्यान में तल्लीन हो गये। मानो वे अपने पृथक् अस्तित्व को भूल कर अखण्ड चैतन्य सत्ता में रूपान्तरित हो गये। भगवत्-चर्चा के क्रम में नरेन्द्रनाथ ने ईसामसीह के त्याग-तपस्यामय अद्भुत जीवन को मार्मिक भाषा में आद्योपान्त कहा। सन्त पॉल से लेकर ईसा के अन्य त्यागी-शिष्यों के अथक परिश्रम और आत्मसमर्पण से कैसे ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार हुआ, इसका वर्णन सुनाते हुए नरेन्द्र ने अपने गुरुभाइयों को प्रेरित किया कि वे भी ईसा और उनके शिष्यों की भाँति पवित्र जीवन गठित कर उसे विश्व-कल्याण में उत्सर्ग कर दें। नरेन्द्र की प्राणवन्त वाणी के प्रभाव से सभी गुरुभाई उठ खड़े हुए और धुनी की धधकती अग्निशिखा को साक्षी मानकर उन्होंने संकल्प लिया कि वे सभी इस महान कार्य हेतु संसार का त्याग करेंगे। बाद में सभी यह जानकर आश्चर्यचकित हुये कि वह रात्रि ईसामसीह के आविर्भाव की पूर्व सन्ध्या थी। परवर्तीकाल में स्वामी शिवानन्द महाराज ने कहा था कि श्रीरामकृष्ण ने हमलोगों को संन्यासी बना दिया था, किन्तु वह भाव आँटपुर में अधिक दृढ़ हुआ ।

कोलकाता वापस आने के बाद सबने वराहनगर मठ में १८८७ के तीसरे सप्ताह में आचार्य शंकर द्वारा प्रवर्तित संन्यासी सम्प्रदाय के परम्परानुसार विधिपूर्वक नाम और गैरिक वस्त्र धारण किये।

(ख) मठ की दिनचर्या की एक झलक – वराहनगर मठ के प्रारम्भिक दिन अत्यन्त कष्ट और संघर्ष में बीते। मठ की विपन्नता का वर्णन करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, ''धनाभाव से मैं कभी-कभी मठ को बन्द करने के लिए विवाद करता था। एक दिन तो खाने को कुछ भी नहीं था। भिक्षा माँगकर चावल लाया गया, तो नमक नहीं। कभी कुन्दुरू के उबाले हुए पत्ते और कभी नमक-भात, यही महीनों तक चलता रहा। न पहनने के लिये पर्याप्त वस्त्र थे और न सोने के लिये चादर। इतने कष्ट के बाद भी कोई उस पर ध्यान नहीं देता था। सुबह से शाम तक पूजा, जप-ध्यान, कीर्तन आदि चलता रहता।''

उस समय वराहनगर मठ विश्वविद्यालय जैसा हो गया था। कभी भारत और अन्य देशों की तुलना से मठ गूँज उठता, कभी कान्ट हेगेल, स्पेन्सर आदि दार्शनिकों यहाँ तक कि नास्तिक, भौतिकवादी और अज्ञेयवादी इत्यादि के विचार भी उनकी संगोष्ठी से नहीं बचते। कभी गीता, उपनिषद, तन्त्र, पुराण, रामायण, महाभारत, बौद्धमत,
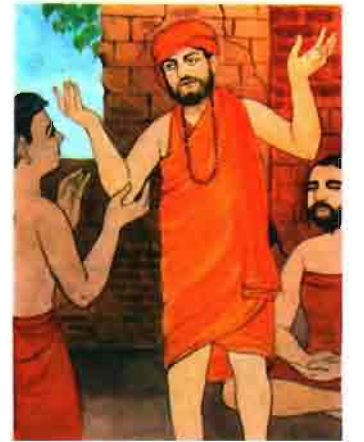
वैष्णवमत, शैवमत आदि अनेक विषयों पर चर्चा होती। कभी सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त की भी चर्चा होती। ललित-विस्तर, ईसानुसरण, संत फ्रान्सिस, संत लॉयला आदि सन्तों की जीवनी पढ़ी जाती। कभी भारतीय इतिहास, सभ्यता, विश्व इतिहास की चर्चा होती और फिर अन्त में श्रीरामकृष्ण देव के जीवन तथा आदर्शों पर चर्चा होती। इन चर्चाओं से उत्पन्न शुष्कता को वे भक्ति-संगीत से दूर करते। कभी-कभी एक दूसरे पर व्यंग्य-विनोद की बातें सबको लोट-पोट कर देतीं। परन्तु इन सबके बावजूद उनके जीवन का चरम लक्ष्य ईश्वर-प्राप्ति कभी भी उनकी आँखों से ओझल नहीं होता था। इस प्रकार तीव्र, कठोर तपस्या, जप-ध्यान और स्वाध्याय आदि की सहायता से वे अपना आध्यात्मिक जीवन गढ़ने लगे। उनकी कठोर तपस्या तथा साधनामय जीवन की अद्भुत गाथा आज भी संघ के साधुओं के लिए प्रेरणा स्रोत बनी हुई है।

३. दूसरा रामकृष्ण मठ : आलमबाजार मठ

फरवरी, १८९२ में श्रीरामकृष्ण देव के जन्मदिन के कुछ दिन पहले मठ वराहनगर से आलमबाजार मठ में स्थानान्तरित हो गया। यहाँ भी श्रीरामकृष्ण देव की पहले के समान नित्य पूजा होने लगी। मठ के कुछ साधु परिव्राजक के रूप में तीर्थ यात्रा पर निकल गये, तो कुछ मठ में ही साधन-भजन में लीन हो गये।

(क) स्वामीजी का भारत भ्रमण – संन्यास-ग्रहण के बाद नरेन्द्रनाथ (स्वामी विवेकानन्द) भी उत्तराखण्ड के ऋषिकेश, हरिद्वार, आदि तीर्थों का दर्शन करते हुए हिमालय से कन्याकुमारी तक परिव्राजक के रूप में अकेले भ्रमण करते रहे। परिव्राजक जीवन में उन्हें राजा, प्रजा, धनी, निर्धन, ब्राह्मण, चाण्डाल आदि सबके साथ समान रूप से मिलने का अवसर मिला। उन्होंने गरीबी, सामाजिक असमानता तथा महिलाओं की दुरवस्था को देखा। भारत का गौरवमय अतीत और वर्तमान की अवनति का दृश्य उनकी आँखों के सामने घूमने लगा।

दक्षिण भारत में परिभ्रमण के समय मद्रास के कुछ उच्च शिक्षित उत्साही युवक स्वामीजी की उदारता, त्याग, गम्भीर पाण्डित्य एवं असाधारण वाक्पटुता से मुग्ध हुए। उन्होंने अगले वर्ष अमेरिका के शिकागो शहर में आयोजित धर्म महासभा में भाग लेने का प्रस्ताव उनके सामने रखा और उन्हें वहाँ भेजने की व्यवस्था भी की।

(ख) विश्वधर्म-महासम्मेलन – सन् १८९३ में हुए इस विश्वधर्म-महासम्मेलन में स्वामीजी की असाधारण सफलता से उनकी योजनाओं को कार्य में परिणात करने का उनका मार्ग प्रशस्त हो गया। लगभग ३ वर्षों तक वे पाश्चात्य देश में वेदान्त के प्रचार-प्रसार और शिक्षा में लगे रहे। उन्होंने आधुनिक विज्ञान तथा वैदिक धर्म के बीच सामंजस्य स्थापित कर दिखाया कि वेदान्त ही सभी मतवादों और सभी धर्मों की नींव है और वेदान्त ही सार्वभौमिक धर्म हो सकता है।

इस यात्रा से स्वामीजी को पश्चिमी सभ्यता के अच्छे-बुरे पहलुओं को समझने का सुयोग मिला। उन्होंने अनुभव किया कि भविष्य का समाज पूर्व और पाश्चात्य के सम्मिलन से ही समुन्नत हो सकता है। अत: इस विचार के क्रियान्वयन हेतु स्वामीजी स्वदेश लौटे।

(ग) स्वामीजी की स्वदेश वापसी – पाश्चात्य भूमि में वेदान्त धर्म का बीज बोकर सन् १८९७ को स्वामी विवेकानन्द जब स्वदेश लौटे, तो देशवासियों और गुरुभाइयों ने विभिन्न स्थानों पर उनका भव्य स्वागत किया।

(घ) रामकृष्ण मिशन एसोसिएशन का शुभारम्भ – १ मई, १८९७ को स्वामीजी ने श्रीरामकृष्ण देव के संन्यासी एवं गृहस्थ शिष्यों को एकत्र कर 'रामकृष्ण मिशन' नामक एक प्रचार समिति की स्थापना की। इस समिति के प्रधान उद्देश्य थे –

१. सभी धर्मों को एक ही सनातन धर्म का विकास समझकर विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच एकता एवं भ्रातृत्व का भाव स्थापित करना।

२. विज्ञान एवं अन्यान्य विषयों में पारंगत उन्नत चरित्र वाले व्यक्ति तैयार करना, जो जन-साधारण की भौतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति के लिये आत्मोत्सर्ग कर सके।

३. भारत के शिल्प, साहित्य एवं ललित कला आदि का विकास और विस्तार करना।

४. श्रीरामकृष्ण देव की सार्वभौमिक शिक्षा के आलोक में जन-साधारण में वेदान्त एवं अन्यान्य धर्मों के प्रकृत आदर्श का प्रचार करना।

५. जाति-धर्म का विचार न करते हुए नर-नारायण भाव से गरीबों की सेवा में स्वयं को समर्पित करना।

दीर्घकाल से पोषित अपने स्वप्न को गुरुभाईयों की सहायता से साकार होते देख स्वामी विवेकानन्द ने राहत की साँस ली।

संघ के साधुओं ने भी स्वामीजी की इच्छा को श्रीरामकृष्ण देव की इच्छा समझकर उत्साह से विभिन्न सेवाकार्यों में अपना योगदान दिया।

४. तीसरा रामकृष्ण मठ नीलाम्बर मुखर्जी के उद्यान में – १२ जून, १८९७ के प्रबल भूकम्प से आलमबाजार मठ को बड़ी क्षति पहुँची। १३ फरवरी, १८९७ को गंगा के पश्चिम तट पर स्थित बेलूड़ ग्राम में श्री नीलाम्बर मुखर्जी के सुविशाल मनोरम उद्यान-भवन में मठ को पुन: स्थानान्तरित किया गया। संघजननी श्रीमाँ सारदा देवी ने यहीं रहकर कठोर पंचतपा व्रत किया था। उनके पुण्य-वास, तप, दिव्य अनुभूति एवं दर्शनों ने इस उद्यान-भवन को पवित्र व चिरस्मरणीय बना दिया था।

(क) बेलूड़ मठ की स्थापना – स्वामी विवेकानन्द की स्थायी मठ स्थापित करने की इच्छा को मूर्त रूप में परिणत करने में उनकी अंग्रेज भक्त-महिला कुमारी हेनरिएट ने अपना अमूल्य योगदान दिया था। उनके द्वारा प्रदत्त २९०००/- रूपये की आर्थिक सहायता से ५ मार्च, १८९८ को बेलूड़ स्थित एक विस्तृत भू-खण्ड के कुछ अंश को खरीदकर नये मठ का निर्माण आरम्भ किया गया। निर्माण कार्य समाप्त होते ही ९ दिसम्बर, १८९८ को स्वामीजी ने नीलाम्बर मुखर्जी के उद्यान-भवन से श्रीरामकृष्ण देव की प्रतिमा और अस्थि-कलश को स्वयं अपने सिर पर वहन कर इस नव-निर्मित मठ में लाकर स्थापित किया। स्वामीजी की इतने दिनों की इच्छा आज पूरी हुई। २ जनवरी, १८९९ से रामकृष्ण संघ का यही स्थायी प्रधान केन्द्र बना हुआ है। १९०१ ई. में ट्रस्ट-डीड (न्यास पत्र) की लिखा-पढ़ी हुई और पहले की प्रचार समिति के समस्त कार्यभार को बेलूड़ मठ के संन्यासी ट्रस्टियों ने सामयिक रूप से ग्रहण कर लिया।

(ख) व्यवस्थित सेवा का आरम्भ – १९वीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में भारत मानो महामारी और अकाल-पीड़ितों का देश हो गया था। इन्हीं दिनों स्वामीजी के सेवादर्शों से प्रेरित होकर स्वामी अखण्डानन्द ने १५ मई, १८९७ को पश्चिम बंगाल के मुर्शिदाबाद जिले में अकाल-राहत-कार्य आरम्भ किया। इसके बाद शृंखलाबद्ध रूप से दक्षिणेश्वर, देवघर, भागलपुर तथा कोलकाता में प्लेग-पीड़ितों के लिये राहत-केन्द्र खोले गए। इन राहत कार्यों द्वारा रामकृष्ण संघ को जनसाधारण के पास पहुँचने का भी सुअवसर प्राप्त हुआ।

(ग) स्वामीजी की महासमाधि – अत्यधिक परिश्रम के कारण स्वामीजी का स्वास्थ्य क्रमश: खराब होता गया। चिकित्सकों के परामर्श पर स्वास्थ्य-सुधार हेतु स्वामीजी ने उत्तर भारत की यात्रा के बाद २० जून, १८९९ को दूसरी बार पाश्चात्य यात्रा की। वहाँ पहुँचकर उन्होंने पहले आरम्भ किए हुए कार्यों का निरीक्षण किया और उसे दृढ़तर करने का प्रयास किया। इस यात्रा के बाद वे ९ दिसम्बर, १९०० ई. को बेलूड़ मठ पहुँचे। इसके बाद उनका स्वास्थ्य खराब होने लगा। ४ जुलाई, १९०२ शुक्रवार को सबको शोक-सागर में डुबाकर वे महासमाधि में लीन हो गये। स्वामीजी के इस आकस्मिक तिरोधान से संघ के संन्यासियों के सामने मानो अन्धकार-सा छा गया। स्वामी विवेकानन्द द्वारा आरम्भ किए गए इस आध्यात्मिक भावधारा को आगे बढ़ाने हेतु साधु-भक्तगण स्वामी ब्रह्मानन्द के नेतृत्व में अथक परिश्रम में जुट गए । उनके सुयोग्य नेतृत्व में संघ-शक्ति क्रमश: बढ़ने लगी और संघ का विस्तार होता गया।

रामकृष्ण भावधारा का द्वितीय चरण (१९०६-१९३६)

१. रामकृष्ण मिशन का पंजीकरण – १९०९ में भारतीय संविधान की १८६०/२१ धारानुसार संघ की प्रचार समिति का 'रामकृष्ण मिशन' के नाम से पंजीकरण करा लिया गया।

वास्तव में रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन संघ के दो भाग हैं। दोनों वैध रूप से अलग होने पर भी उनका आदर्श मूलत: एक ही है। रामकृष्ण मिशन का कार्य बेलूड़ मठ की संचालन-समिति के न्यासियों द्वारा संचालित होता है। उसके कार्यकर्ता रामकृष्ण मठ के ही संन्यासी हैं। बेलूड़ मठ ही रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन का सम्मिलित प्रधान केन्द्र है। १९२२ ई. में स्वामी ब्रह्मानन्दजी की महासमाधि के पश्चात् क्रमश: स्वामी शिवानन्द, स्वामी अखण्डानन्द, स्वामी विज्ञानानन्द, स्वामी शुद्धानन्द संघ के महाध्यक्ष बने और उन्होंने देश-विदेश में अनेक स्थानों पर मठ-मिशन के केन्द्र स्थापित कर संघ का विस्तार किया।

२. आदर्श और लक्ष्य में विस्तार – रामकृष्ण मिशन के सेवाकार्य 'शिवभाव से जीवसेवा' के आदर्शानुसार त्यागी और गृही भक्तों द्वारा संचालित किए जाते हैं। इस विषय में एक भक्त ने श्रीमाँ सारदा देवी से पूछा – क्या साधुओं को अस्पताल चलाना, पुस्तक बेचना, हिसाब-किताब रखने का काम करना चाहिए? श्रीरामकृष्ण ने तो कभी ये सब नहीं

कहा। तब श्रीमाँ ने दृढ़तापूर्वक कहा, "काम नहीं करेंगे, तो रात-दिन कैसे रहेंगे? क्या चौबीसों घण्टे जप-ध्यान किया जा सकता है? ठाकुर की बात और है...।" इस प्रकार श्रीमाँ तथा ठाकुर के त्यागी-सन्तानों ने वेदान्त के व्यावहारिक पक्ष को सबके समक्ष रखकर सेवाकार्य सम्बन्धी भ्रान्त धारणाओं का निराकरण किया।

श्रीमाँ की प्रेरणा से जयरामबाटी में विद्यालय और चिकित्सा-केन्द्र का आरम्भ किया गया। रामकृष्ण संघ के प्रथम संघाध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानन्द के नेतृत्व में कनखल सेवाश्रम, भुवनेश्वर मठ इत्यादि की स्थापना हुई। स्वामी सारदानन्द ने रामकृष्ण संघ के महासचिव पद का कार्यभार वहन करते हुए 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग' ग्रन्थ की रचना की। स्वामी रामकृष्णानन्द ने चेन्नई मठ तथा स्टुडेन्ट होम की स्थापना की। स्वामी अखण्डानन्द की दरिद्र-नारायण सेवा वर्तमान और भविष्य में आने वाले सभी साधकों के लिए आदर्शस्वरूप है। श्रीरामकृष्ण देव की अन्य त्यागी-सन्तानों ने भी त्याग और सेवा के आदर्श को अपने जीवन, कार्य और उपदेश द्वारा लोगों के सामने रखा।

३. १९२६ का महासम्मेलन – १ से ७ अगस्त, १९२६ में बेलुड़ मठ में प्रथम महासम्मेलन हुआ। यह संघ के इतिहास में महत्त्वपूर्ण है। इसमें संघ से सम्बन्धित लगभग सौ केन्द्रों के ३५० प्रतिनिधियों ने भाग लिया। मठ-मिशन की स्थापना के चालीस वर्षों की अल्पावधि में संघ के सेवाकार्यों का इतना विस्तार हो गया था कि संन्यासी तथा गृहस्थ-भक्त एक ऐसे सम्मेलन की आवश्यकता का अनुभव कर रहे थे, जहाँ सभी सदस्य एवं कार्यकर्ता अपने-अपने अनुभवों का परस्पर विनिमय कर सकें और भावी सेवाकार्यों का निर्धारण कर सकें।

इस सम्मेलन में अध्यक्ष स्वामी शिवानन्द तथा सचिव स्वामी शुद्धानन्द हुए। सम्मेलन को स्वामी शिवानन्द, स्वामी सारदानन्द, स्वामी अखण्डानन्द, स्वामी शुद्धानन्द आदि ने सम्बोधित किया।

४. गृहस्थ-भक्तों और प्रशंसकों की भूमिका – रामकृष्ण-भावधारा के विकास में गृहस्थ भक्तों की बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। श्रीरामकृष्ण देव के गृहस्थ भक्त सुरेन्द्रनाथ, बलराम बसु की आर्थिक सहायता, गिरीश घोष का सदा समर्थन, महेन्द्र नाथ गुप्त, देवेन्द्र की साहित्यिक प्रतिभा, पल्टु और छोटे नरेन की कानूनी सहायता, इसके अतिरिक्त अक्षय सेन, चुन्नीलाल वसु, मणिन्द्र गुप्त आदि ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भावधारा को आगे बढ़ाने में मदद किया। गोपाल की माँ, योगीन-माँ तथा श्रीरामकृष्ण देव की अनेक महिला भक्तों ने श्रीरामकृष्ण में अनन्य निष्ठा-भक्ति तथा श्रीमाँ की व्यक्तिगत सेवा द्वारा भावधारा में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। यद्यपि वे लोग सार्वजनिक रूप से लोगों के सामने नहीं आये, किन्तु अपने पवित्र जीवन से संघ हेतु अमिट दृष्टान्त छोड़ गये।

उसी प्रकार दक्षिण भारत में आलसिंगा पेरूमल, एन. राव तथा अन्य अनेक भक्तों ने दक्षिण भारत में संघ के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

पाश्चात्य के सेवियर दम्पती, ओली बुल, जोसेफिन मेक्लाउड, फ्रांसिस लेगेट, सिस्टर देवमाता आदि भक्तों ने विदेश तथा भारत में आर्थिक सहायता आदि से भावधारा के विकास में अपना अमूल्य योगदान दिया।

फ्रांस के प्रख्यात लेखक रोमाँ रोला का साहित्यिक अवदान, दर्शनशास्त्रीय जेन हर्बर्ट के भाषण ने पश्चिम में भावधारा के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

५. श्रेयांसि बहु विघ्नानि – अच्छे कार्यों में अनेक विघ्न आते हैं। किसी भी संस्था के विकास में दो प्रकार के विघ्न आते हैं – बाह्य और आन्तरिक। रामकृष्ण भावधारा भी इन विघ्नों से अछूता नहीं रहा। प्रथम विश्वयुद्ध, स्वतन्त्रता आन्दोलन, अंग्रेज सरकार की अप्रसन्नता इत्यादि अनेक समस्याओं से मठ-मिशन को गुजरना पड़ा।

स्वतन्त्रता सेनानी, क्रान्तिकारी और राष्ट्रीय नेता सभी स्वामीजी को अपना आदर्श मानने लगे थे। कई बार पुलिस की जाँच में उनके घरों से स्वामीजी की पुस्तकें मिलती थीं। अत: सरकार भावधारा के सेवाकार्यों पर कड़ी दृष्टि रखने लगी थी। दूसरी और भावधारा के स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग नहीं लेने से देश के नागरिक आलोचना करने लगे थे। स्वामी शिवानन्द जी, मिस मेक्लाउड आदि के उपदेश और प्रचार द्वारा इन सब आक्षेपों का निराकरण हुआ। स्वामी शिवानन्द जी ने कहा कि रामकृष्ण-भावधारा केवल वर्तमान के लिये नहीं है, यह हजार वर्षों के लिये है, यह मात्र भारत के लिये ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व के कल्याणार्थ है। **(क्रमशः)**

आध्यात्मिक जिज्ञासा (१७)

स्वामी भूतेशानन्द

(ईश्वरप्राप्ति के लिये साधक साधना करते हैं, किन्तु ऐसी बहुत-सी बातें हैं, जो साधक की साधना में बाधा बनकर उपस्थित होती हैं। साधक के मन में बहुत से संशयों का उद्भव होता है और वे संशय उसे लक्ष्य पथ में भ्रान्ति उत्पन्न कर अभीष्ट पथ में अग्रसर होने से रोकते हैं। इन सबका सटीक और सरल समाधान रामकृष्ण संघ के द्वादश संघाध्यक्ष पूज्यपाद स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज ने दिया है। इसका संकलन स्वामी ऋतानन्द जी ने किया है, जिसे हम 'विवेक ज्योति' के पाठकों हेतु प्रकाशित कर रहे हैं। – सं.)

प्रश्न – महाराज ! स्वामी विवेकानन्द ने रामकृष्ण संघ के आदर्श के बारे में कहा था – ''आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च।'' क्या शास्त्र में ऐसा कोई उल्लेख है, जहाँ से उन्होंने यह लिया हो?

महाराज – स्वामीजी की वाणी ही तो शास्त्र है।

– उसे तो हम लोग स्वीकार करते हैं महाराज, यद्यपि स्वामीजी ने बहुत-सी बातें कही हैं, जो शास्त्रों में हैं। किन्तु ऐसा कोई वाक्य मिलता है क्या?

महाराज – उसे ठीक शास्त्र नहीं कहा जा सकता। आचार्य शंकर ने कहा है – **वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः** – बसन्त ऋतु के समान संसार के कल्याण के लिए सन्त विचरण करते हैं।

– स्वामीजी ने संन्यासी के आदर्श के रूप में आत्ममुक्ति के साथ जगत का कल्याण, इस दूसरी चीज को जोड़ दिया।

महाराज – इसके साथ जोड़ दिया, यह बात मत कहो । ये समान्तर कार्य है। इसमें किसी का महत्त्व न कम है और न ही किसी का अधिक है।

– स्वामीजी के पहले के संन्यासियों के जीवन और आदर्श में केवल आत्ममुक्ति का लक्ष्य ही मिलता है । तब उन्होंने जगत का कल्याण क्यों जोड़ दिया?

महाराज – स्वामीजी ने देखा कि केवल आत्ममुक्ति-आत्ममुक्ति कहकर संन्यासी स्वार्थी, आलसी और निर्दयी हो गये हैं। उनसे न तो मुक्ति हो रही है, न ही किसी का उपकार हो रहा है। स्वार्थपरता संकीर्णता से आती है। स्वार्थपरता से चित्त अशुद्ध होता है। चित्तशुद्धि आत्मज्ञान की पहली शर्त है।

चित्तशुद्ध होना, माने स्वार्थपरता न रहना। जगत कल्याण को प्रारम्भ में ठाकुर के शिष्यों में बहुत से लोगों ने स्वीकार नहीं किया। स्वामीजी ने उसे बहुत महत्त्व दिया और उनके जोर देने पर अन्य गुरुभाइयों ने उसे स्वीकार किया। श्री रामकृष्ण-वचनामृत पढ़ने पर जगत-कल्याण कभी-कभी गौण प्रतीत होता है। ठाकुर ने कहा है, क्या जगत इतना छोटा है कि तुम उसका कल्याण करोगे? ठाकुर की इन बातों का अर्थ प्रसंगानुसार समझना होगा।

– तब तो महाराज, स्वामीजी ने चित्तशुद्धि के लिये जगत-कल्याण का अनुमोदन किया है।

महाराज – केवल चित्तशुद्धि के लिए नहीं, उन्होंने जैसे आत्ममुक्ति को महत्त्वपूर्ण माना है, ठीक वैसे ही जगत कल्याण को भी महत्त्व दिया है।

– तब तो महाराज। आप कह रहे हैं कि चित्तशुद्धि होने से ही आत्ममुक्ति हो जायेगी। दोनों समान या एक ही वस्तु है?

महाराज – चित्तशुद्धि और जगत कल्याण। जगत-कल्याण से चित्तशुद्धि की बात ठीक नहीं है। आदर्श है – आत्ममुक्ति और जगत-कल्याण। ये दोनों आदर्श हैं, इसे याद रखना होगा।

– जब मुक्ति लक्ष्य है, तब क्या जगत-कल्याण उपाय नहीं है? उपाय माने जिसे हमलोग साधना कहते हैं।

महाराज – केवल मुक्ति ही लक्ष्य है, तुम्हें किसने कहा?

– जीव का लक्ष्य क्या है? परमात्मा के साथ जीव की अभिन्नता या एकत्व या मुक्ति, यही तो?

महाराज – क्या ठाकुर ने स्वामीजी को नहीं डाँटा ? यदि मुक्ति ही लक्ष्य होता, तो ये डाँट-फटकार क्यों? क्या ठाकुरजी ने स्वामीजी को नहीं कहा कि निर्विकल्प समाधि से भी ऊँची अवस्था है। वह ऊँची अवस्था क्या है? वह

है – सभी प्राणियों में ब्रह्मदर्शन करके सेवा करना।

– हमलोग कह रहे हैं, कर्मयोग या जगत-कल्याण हमारी साधना है।

महराज – लक्ष्य ! आत्ममुक्ति भी लक्ष्य है और जगत-कल्याण भी लक्ष्य है।

– दोनों एक कैसे होंगे? आपने कहा कि दोनों समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। यदि दोनों ही लक्ष्य हैं, तब तो दोनों भिन्न नहीं है?

महाराज – दोनों एक नहीं हैं। दोनों भिन्न हैं। कोई जगत-कल्याण के लिये प्रयास कर रहा है, किन्तु आत्ममुक्ति की चेष्टा नहीं कर रहा है। दोनों को समान महत्त्व देना पड़ेगा। यही स्वामीजी की बात है। दोनों शब्दों के अन्त में 'च' शब्द का अर्थ 'एवम्' है। अर्थात् दोनों को ग्रहण करना होगा। आत्ममुक्ति का प्रयास करो और साथ ही जगत-कल्याण भी करो।

– जगत्-कल्याण में कोई आध्यात्मिकता नहीं भी हो सकती है। भौतिक रूप से बहुत-से लोग जगत-कल्याण करने का प्रयास कर रहे हैं।

महाराज – हाँ, इसीलिए स्वामीजी जगत-कल्याण के साथ आत्ममुक्ति की बात कर रहे हैं। दोनों को समान रूप से महत्त्व दिया जा रहा है।

– जब हमलोग जगत-कल्याण का कार्य कर रहे हैं, तब क्या मुक्ति की बात याद नहीं रहेगी? या मुक्ति का स्मरण करते हुए करेंगे?

महाराज – अब मैं उसको उल्टा तुम्हें कहता हूँ। जब मुक्ति का प्रयास कर रहे हो, तब क्या जगत-कल्याण याद नहीं रहेगा?

– कई बार नहीं रहता है। ऐसा देखा जाता है कि स्वार्थ चला आता है। केवल अपनी मुक्ति के लिए चेष्टा हो रही है।

महाराज – ठीक वैसे ही, जगत-कल्याण के समय आत्ममुक्ति की बात याद नहीं रहती ।

– ठीक है। किन्तु यदि दोनों अलग हो तो?

महाराज – दोनों अलग क्यों होंगे, दोनों को एक साथ करना है। पृथक् का अर्थ यह नहीं है कि एक को किया जाए और दूसरे को छोड़ दिया जाय। दोनों को समान महत्व देना होगा। **(क्रमशः)**

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरत् चन्द्र पेंढारकर

३०६. सावधान ! पूर्वकर्मों का संचय है प्रारब्ध

महाभारत का युद्ध समाप्त हो गया। अठारह अक्षौहिणी सेना काल के गाल में समा गईं । कौरव सेना और यादव सेना का पूर्णत: विनाश हो गया। सौ पुत्रों के मारे जाने से गान्धारी शोकविह्वल हो गईं। इन सबके लिए द्रौपदी स्वयं को दोषी मान रही थीं। माता गान्धारी को सान्त्वना देने का विचार उनके मन में बार-बार उठ रहा था। लेकिन उनका अन्तर्मन उन्हें जाने से रोक रहा था। वे सोचने लगीं, "यदि भरी सभा में दुर्योधन के गिरने पर मैंने उनकी हँसी न उड़ाई होती और 'अन्धे का पुत्र अन्धा ही होता है' – ये कटु शब्द न कहे होते, तो न यह युद्ध होता और न ही महाविनाश।"पांडवों ने द्रौपदी को सब प्रकार से समझाने की चेष्टा की, किन्तु वे विफल रहे। द्रौपदी का अवसाद नहीं गया।

यह बात जब श्रीकृष्ण को मालूम हुई, तो द्रौपदी के पास आकर उन्होंने कहा, "कृष्णा तुम व्यर्थ ही स्वयं को दोषी मान रही हो। दुर्योधन ने जब साफ-साफ कह दिया था कि वह सुई की नोक के बराबर भी जमीन नहीं देगा, तो क्या इसके लिये तुम दोषी हो ? जरा सोचो, द्यूत (जुए) में पांडवों का हारना, दुर्योधन का युद्ध के लिये ललकारना, युद्ध में सबका मारा जाना, क्या यह सब तुम्हारे कारण हुआ? क्या इसके लिये तुम दोषी हो? तुम्हारा अपराध-बोध तुम्हारी नादानी है। पूर्व में किये गये कर्म संचित होकर क्रियाशील होते हैं। सारी घटनाएँ प्रारब्ध के अनुसार घटित हुईं। इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं। तुम सब कुछ भूल जाओ। अब और अधिक दुखी मत होओ। अवसाद को दूर कर दो।"

नियति प्रबल होती है। पूर्वजन्म के पाप-पुण्य अगले जन्म में फलित होते हैं। वर्तमान में होने वाली घटनाओं का मनुष्य को सामना करना ही पड़ता है। जो बीत गया, उसे भूलकर सुखद भविष्य के लिए अच्छे कर्म करते हुए वर्तमान को सँवारना चाहिये। ○○○

नाम जपो भाई रे

स्वामी सत्यरूपानन्द

भगवान का सतत स्मरण करने से हमारे भीतर भगवान के नाम की धारा चलती रहती है। चित्तशुद्धि का सबसे अच्छा उपाय है – भगवान का नाम-स्मरण। जब हम अच्छी वृत्तियों का संग्रह करते हैं, तब अशुभ वृत्तियाँ निकल जाती हैं। हम एक-एक तिल रखकर हिमालय चढ़ना चाहते हैं। हम चढ़ेंगे, लेकिन उसके लिए बहुत धैर्य रखना पड़ेगा। कठिनाई में हमें यह नाम मदद करेगा। हमें भगवान ने जो भी कार्य या सेवा करने का अवसर दिया है, हमें उसे दत्तचित्त होकर करना चाहिए । सेवा के बदले अपेक्षाएँ नहीं रखनी चाहिए। सेवा में प्रत्युपकार की भावना नहीं होनी चाहिये। सदा शुभ कर्म करो और बुरे कर्म को भूल जाओ।

भगवान की प्रार्थना करने से हमारा मन ठीक होता है । स्वस्थ मन भगवान की कृपा से ही मिलता है। स्वस्थ मन हमेशा आनन्द में रहता है। भगवान से अपनी दुर्बलता दूर करने के लिये प्रार्थना करनी चाहिये। भगवान से कभी भी कोई सांसारिक वस्तु नहीं माँगना। वह तो अपने प्रारब्ध से ही मिलती है। पुरुषार्थ करने से प्रारब्ध बनता है। इसलिये हमें अच्छे कर्म करना चाहिए, जिससे अच्छा प्रारब्ध बने, भगवान की भक्ति करने का प्रारब्ध बने।

जीवन में धन की आवश्यकता पड़ती है, लेकिन धन के लिए जीवन को झोंक नहीं देना है। किसी से ईर्ष्या मत करना। यह कब होती है? मैं सबसे श्रेष्ठ हूँ, जब ऐसी भावना होती है, तब मन में ईर्ष्या आती है। ईर्ष्या माचिस की तीली जैसी है। ईर्ष्यालु स्वयं ही जल जाता है। जिसकी ईर्ष्या करते हैं, उसका कुछ नहीं बिगड़ता। ईर्ष्या बड़ा दुर्गुण है। यह विकृत मनोवृत्ति है, बहुत हानिकर है। इसलिये मन में ईर्ष्या न हो, हमें भगवान से प्रार्थना करनी चाहिए।

भगवान जिसमें हमारा मंगल है, वही करते हैं। जैसा हम चाहते हैं, यदि वैसा भगवान करें, तब तो हम महाविपत्ति में पड़ सकते हैं। क्योंकि हमारी बुद्धि इतनी छोटी है कि हम यह नहीं जानते कि हमारा मंगल किससे होगा। भगवान सब कुछ जानते हैं। उनकी कृपा से सदा सभी परिस्थितियों में मंगल ही होगा। उनके हर कार्य हमारे मंगल के लिये है। हमें आनन्द से रहना है। किसी की प्रशंसा और निंदा से विचलित न हों, सदा समान बने रहें। सुख-दुख दोनों मन की चंचलता से होता है। मन को हमेशा समता में रखना चाहिये।

हम लोग चिन्तारहित और संतुष्ट जीवन बिताना चाहते हैं, पर संसार में रहने से चिन्ता तो रहेगी ही। वह तो भगवान के नाम-जप और प्रार्थना से ही कम हो सकती है। सुख या दुख का बड़ा दोष यह है कि यह स्थायी नहीं है। बड़ा सुख भी बाद में नीरस हो जाता है। हमारा मन भी परिवर्तनशील है। जन्म-जन्मांतरों से भोग भोगने का हमारा संस्कार बन गया है। इसलिये मन को नई साधना का संस्कार दें। सुख-दुख के ऊपर उठकर भगवान से जुड़ें। सांसारिक माया हमें भगवान से हटा देती है। लेकिन भगवान से प्रार्थना करने पर, उनका नाम-जप करने पर सब ठीक हो जाता है।

जब भी आध्यात्मिक परिवेश का सुयोग मिलता है, तो हमें उसे नहीं छोड़ना चाहिए। आध्यात्मिक जीवन जीने के लिये जीवन को संतुलित रखें। बिना संयम से संतुलन आ नहीं सकता। प्रलोभनों से बचें। इसी जीवन में सुख-शान्ति पाने के लिए हमें कुछ नियमों का पालन करना चाहिए। साधना की बातें सुनने में अच्छी लगती हैं, लेकिन करने में कठिन होती हैं। किन्तु हमें साधना करनी ही होगी।

साधक को वाचाल नहीं होना चाहिए। क्योंकि जो हम बोलते-सुनते हैं, उसका हमारे मन पर प्रभाव पड़ता है और शक्ति का क्षय होता है। इससे बचने का उपाय है कि मन लगे या न लगे नाम-स्मरण का अभ्यास करना चाहिए। असफल होने पर भी बार-बार प्रयत्न करें।

कुसंग से बचना चाहिए। बुरी आदतों को धीर-धीरे छोड़ दो। जप और प्रार्थना के द्वारा भगवान से संवाद करें। प्रार्थना की शक्ति से गलत आदतें छूट जाती हैं। कभी भी निराश न हों।

भगवान पर विश्वास रखें। सहायता भले ही संसार से लें, पर निर्भरता भगवान पर ही रहनी चाहिए। हमेशा नाम-जप और प्रार्थना करते रहना चाहिये। ○○○

दूसरों के प्रति हमारा व्यवहार

एक राजा अपने मन्त्री और सैनिकों के साथ सैर-सपाटे के लिए जा रहे थे। राजा बहुत ही दयालु थे और अपनी प्रजा का अच्छी तरह ध्यान रखते थे। राजा जा रहे हैं, इसलिए सैनिक पहले से ही रास्ता खाली करवा रहे थे। उस रास्ते पर एक नेत्रहीन व्यक्ति भोजन कर रहा था। वह जन्म से ही नेत्रहीन था। वह बड़ा ही विनम्र और बुद्धिमान था। गाँव के लोग उसका बहुत सम्मान करते थे।

सैनिक उसके पास आए और अकड़कर कहा, 'ओ अन्धे, चल रास्ते से उठ, राजा आ रहे हैं।' नेत्रहीन व्यक्ति ने विनम्रतापूर्वक कहा, 'हाँ सैनिक जी, बस भोजन हो ही गया, पानी पीकर उठ रहा हूँ।'

इतने में राजा के मन्त्री भी वहाँ पहुँचे। उन्होंने उस नेत्रहीन व्यक्ति से कहा, 'क्या आपका भोजन अच्छी तरह हो गया?' उसने मन्त्री से कहा, 'हाँ मन्त्रीजी, मेरा भोजन हो गया।' मन्त्री को बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह व्यक्ति सचमुच में नेत्रहीन है या नेत्रहीन होने का नाटक कर रहा है।

थोड़ी देर में राजा रथ पर सवार होकर वहाँ से गुजरे। उस नेत्रहीन व्यक्ति को देखकर राजा ने रथ रोकने को कहा। राजा ने उसका अभिवादन कर कहा, 'सूरदासजी! नमस्ते।' गाँवों में नेत्रहीन व्यक्ति को सूरदास कहा जाता था। सूरदासजी बहुत बड़े सन्त थे और जन्म से ही नेत्रहीन थे। राजा की पुकार सुनते ही उस नेत्रहीन व्यक्ति ने कहा, 'महाराजा जी, मेरा प्रणाम स्वीकार करें।'

अब मन्त्री से रहा नहीं गया। उसने नेत्रहीन व्यक्ति से पूछा, 'आपकी आँखें तो नहीं हैं, आप कैसे पहचान लेते हैं कि अमुक व्यक्ति सैनिक, मन्त्री अथवा राजा है?' तब उस नेत्रहीन व्यक्ति ने कहा, 'मन्त्रीजी ! लोगों के बोलने के ढंग से मैं समझ जाता हूँ कि अमुक व्यक्ति किस स्तर का है। सैनिकों ने मुझे 'अन्धा' कहकर पुकारा, तो मैं समझ गया कि वे सैनिक ही होंगे। आपने विनम्रतापूर्वक मुझसे भोजन के बारे में पूछा, तो मैं समझ गया कि आप मन्त्री ही हो सकते हैं। और जब राजा ने मुझे 'सूरदास' कहकर पुकारा तो मुझे निश्चय हुआ कि ये हमारे दयालु राजा ही हो सकते हैं।' राजा और मन्त्री उन 'सूरदासजी' की बात सुनकर बहुत आनन्दित हुए।

इस कहानी से हमें यह ज्ञात होता है कि हमारा दूसरों के प्रति व्यवहार शिष्ट होना चाहिए। हमारा व्यवहार ही हमारे व्यक्तित्व का दर्पण है, किन्तु हमारा वह व्यवहार सच्चा होना चाहिए। उसमें कृत्रिमता नहीं होनी चाहिए। ○○○

विद्यासागर जी की मातृ-भक्ति

ईश्वरचन्द्र विद्यासागरजी अपनी माँ को भगवान के समान मानते थे । जब वे कॉलेज के अध्यापक थे, तब इनके भाई का विवाह हुआ। माँ ने विद्यासागर जी को अपने गाँव बुलाया। विद्यासागरजी ने अपने प्राध्यापक से छुट्टी माँगी, किन्तु उन्होंने अस्वीकृत कर दी। उन्होंने तुरन्त त्याग-पत्र लिखकर दिया और कहा, 'मैं नौकरी छोड़ सकता हूँ, किन्तु माँ की आज्ञा नहीं टाल सकता।' अन्तत: उन्हें छुट्टी मिल गई और वे अपने घर की ओर जाने लगे। घर जाने के लिए उन्हें नदी पार करनी पड़ती थी। उस समय वर्षा हो चुकी थी और नाव में पानी का स्तर भी बहुत था। नाविक भी दिखाई नहीं दे रहे थे। उनको तैरना तो अच्छी तरह आता था। वे नदी में कूद पड़े और तैरकर नदी के उस पार पहुँच गए। अच्छे-अच्छे मल्लाह भी जिसे पार करने में घबड़ाते थे, विद्यासागर जी ने उस नदी को सहज में पार कर लिया। वे शाम को घर पहुँचे। उनके पहुँचने के पहले ही बारात जा चुकी थी। विद्यासागर जी की माँ आँसू बहाते उनकी बाट जोह रही थी। विद्यासागर को देखकर माँ की खुशी का ठिकाना न रहा। उन्होंने माँ को प्रणाम किया। माँ ने देरी का कारण पूछा तो विद्यासागर जी ने टाल दिया। क्योंकि यदि माँ को बताते कि वे तैरकर आए हैं, तो वे बहुत चिन्तित हो जातीं। ○○○

पराजय – वीर का अलंकार

स्वामी मेधजानन्द

लक्ष्मण नामक एक युवक महाविद्यालय की परीक्षा दे रहा था। अगले दिन उसकी जिस विषय में परीक्षा थी, उसका उसने पहले अच्छी तरह अभ्यास नहीं किया था। लक्ष्मण स्वाभिमानी छात्र था, किन्तु कभी-कभी परीक्षा में घबरा जाता था। उसे फेल होना बिल्कुल भी अच्छा नहीं लगता था। कुछ विषयों में पास और कुछ विषयों में फेल, इस तरह *A.T.K.T* प्राप्त कर, उसे आनेवाले वर्ष में प्रवेश मिल जाता था।

तो, अगले दिन की परीक्षा के लिए लक्ष्मण ने मन-ही-मन फेल होने की योजना बना दी। संयोगवश उसकी दृष्टि मेज पर रखी स्वामी विवेकानन्द की एक पुस्तक पर गई। पुस्तक के पृष्ठ खोलते हुए उसने स्वामीजी के ये विचार पढ़े, 'मैंने कभी रणक्षेत्र में पीठ नहीं दिखाई...। पराजय के भय से क्या मैं युद्धक्षेत्र से पीछे हट जाऊँ? ***पराजय वीर का वह अलंकार है, जिससे वह स्वयं को सुशोभित करता है,*** किन्तु बिना युद्ध के ही क्या मैं हार मान लूँगा।'

स्वामीजी के ये विचार पढ़ते ही लक्ष्मण के शरीर में बिजली-सी कौंध गई। उसने सोच लिया कि यदि कल की परीक्षा में फेल होना भी पड़े, कोई बात नहीं, किन्तु मैं मन लगाकर परीक्षा की तैयारी करूँगा। उसके पास तैयारी के लिए केवल एक रात बाकी थी। रात-भर उसने जाग कर परीक्षा की पढ़ाई की। अगले दिन पेपर बहुत ही कठिन आया। कुछ दिनों बाद जब उसके परिणाम आए, तो उसमें बहुत-से छात्र फेल हो गए थे। किन्तु, आश्चर्य की बात! लक्ष्मण उस कठिन परीक्षा में अच्छी तरह से उत्तीर्ण हो गया।

हम सभी के साथ बहुधा इसी प्रकार होता है कि हम सम्मुख उपस्थित विकट परिस्थिति को देखकर घबरा जाते हैं। पराजय का भय राक्षस के समान बार-बार हमारे सामने अपना विकराल मुख लेकर उपस्थित हो जाता है। बहुधा इस प्रकार का भय नकारात्मक और मनगढ़न्त कल्पनाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। भय के नकारात्मक पक्ष से हम सभी को बचना चाहिए। भय शब्द को अंग्रजी में *fear* कहा जाता है। किसी ने इस शब्द की इस प्रकार व्याख्या की है, F-E-A-R – **F**alse **E**vidences **A**ppearing **R**eal -। बहुधा हम परीक्षा की, नौकरी के लिए इन्टरव्यु देने की अथवा किसी बड़े व्यक्ति से बात करने की लगभग अच्छी तैयारी कर लेते हैं, किन्तु न जाने मन में पहले से ही असफलता अथवा नकारात्मकता के विचार हमें घेर लेते हैं।

कभी-कभी पढ़ाई, व्यवसाय, नौकरी इत्यादि में अच्छी तरह से प्रयास करने पर भी व्यक्ति को असफलता प्राप्त होती है। वह हताश हो जाता है और उसे लगता है कि इस असफलता से उसका जीवन समाप्तप्राय हो गया। दसवीं की बोर्ड की परीक्षा में यदि कोई फेल हो जाता है, तो उसे लगता है कि उसका पूरा जीवन ही बेकार हो गया। यह उसी प्रकार है कि जैसे किसी छोटे बच्चे को यदि चाकलेट न मिले, तो उसे लगता है कि संसार में उससे सब कुछ छीन लिया गया हो। बच्चों के लिए यह बात ठीक हो सकती है, किन्तु युवाओं लिए नहीं।

प्रत्येक युवक चाहता है कि वह जीवन में सफल हो, यशस्वी हो तथा सुख और आनन्द प्राप्त करे। इसके लिए कठिन परिश्रम करना पड़ता है। हो सकता है कि जीवन में असफलता आ जाए, पराजय सहन करनी पड़े। किन्तु हमारे पास एक ही उपाय है और वह है निरन्तर प्रयास। असफलता के पीछे उसके कारणों को ढूँढ़ना चाहिए। कदाचित हमारे प्रयासों में कुछ कमी रह गई हो। यदि पूरे प्रयास और परिश्रम के बाद भी हमें जीवन के किसी क्षेत्र में असफलता प्राप्त होती है, तो हमें कोई दुख नहीं होना चाहिए। जीवन में सबसे बड़ा दोष है – निराश हो जाना। जीवन से निराश होकर ही युवा अनुचित मार्ग पर चले जाते हैं। हमें सतत अपने मन को उच्च बलप्रद विचारों से पूर्ण रखना चाहिए। जिस प्रकार शरीर को बलिष्ठ रखने के लिए उत्तम आहार की आवश्यकता होती है, ठीक उसी प्रकार मन को सुदृढ़ बनाने के लिए उच्च विचारों की आवश्यकता होती है।

पराजय केवल वीर का ही अलंकार हो सकती है। कायर, दुर्बल, आलसी व्यक्ति के लिए पराजय एक कड़वा सत्य है। इस पृथ्वी पर जिसने जन्म लिया है, उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है, किन्तु सैनिक के लिए रणक्षेत्र में मृत्यु वीरगति हो जाती है, एक सन्त की मृत्यु को महासमाधि कहा जाता है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, 'सभी कार्यों में हार-जीत अवश्यम्भावी है, किन्तु मेरा विश्वास है कि कायर मरकर निश्चित ही कीट बन जाता है।'

इसलिए जीवन के इस रणक्षेत्र में अपनी क्षमताओं का यथासम्भव विकास कर हम स्वयं को सफल, ऊर्जावान और प्रतिभाशाली बनाएँ। ○○○

गीतातत्त्व चिन्तन (८/१)

(आठवाँ अध्याय)

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी महाराज रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम के संस्थापक सचिव थे। उनका 'गीतातत्त्व चिन्तन' भाग-१,२, अध्याय १ से ६वें अध्याय तक पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुका है और लोकप्रिय है। ७वाँ अध्याय का 'विवेक ज्योति' के १९९१ के मार्च अंक तक प्रकाशित हुआ था। अब प्रस्तुत है ८वाँ अध्याय, जिसका सम्पादन रामकृष्ण अद्वैत आश्रम के स्वामी निखिलात्मानन्द जी ने किया है । सं.)

हम देखते हैं, ९वें श्लोक में सगुण निराकार का वर्णन है। यहाँ उस परम पुरुष को कवि कहा गया है। कवि का अर्थ Poet नहीं है। कवि वह होता है, जो त्रिकालद्रष्टा हो। क्रान्तद्रष्टा को कवि कहते हैं। जो बीत चुका है, उसको जो देख ले, उसे कवि कहा जाता है। कवि का मतलब है, वह जो अतीत को देखता है। वर्तमान को तो वह देख ही रहा है। वर्तमान को देखने के आधार पर वह भविष्य को देख लेगा, इसको हम कहते हैं – क्रान्तद्रष्टा। जो तीनों कालों का ज्ञाता है, वह परम दिव्य पुरुष है। आप कह सकते हैं कि कुछ ज्योतिषी होते हैं, जो भविष्य की बातें बतला देते हैं। पर हम यह भी देखते हैं कि उनकी बताई भविष्यवाणियाँ कभी-कभी मिलती नहीं हैं। यहाँ पर तात्पर्य ऐसे भविष्यवेत्ताओं से नहीं है। यहाँ पर तात्पर्य उस परम दिव्य पुरुष से है। वह कवि है, अर्थात् क्रान्तद्रष्टा है। तीनों कालों को देखनेवाला है। उसके दर्शन में किसी प्रकार का व्यतिक्रम नहीं होता है। क्योंकि पुराणम् - वह पुराण है। उसका मतलब है कि वह पहले जैसा ही है, मानो वह नया होता हुआ भी पुराना ही है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। जैसा था, वैसा ही बना हुआ है। उसमें किसी प्रकार का परिणाम नहीं हुआ। परिणाम और परिवर्तन न होते हुए भी वह नया दिखाई देता है। जब हम साधना शुरू करते हैं, तब इष्ट पर हम मन लगाने की चेष्टा करते हैं। ध्यान करते हैं। जैसे-जैसे ध्यान करते जाते हैं, एक नवीनता आने लगती है। हमारा आकर्षण ईश्वर के प्रति बढ़ता जाता है। तो यह जो तत्त्व है, जिसे परम दिव्य पुरुष कहा गया है, वह कैसा है? उसमें कोई परिवर्तन नहीं है। पर वह नया-सा मालूम पड़ता है। इसीलिए उसे पुराण कहा गया। फिर उसे अनुशासितारम् कहा गया, अर्थात् वह अनुशास्ता है। वह सबका नियंत्रण करनेवाला है, ईशन करनेवाला है। जो ईशन करता है, शासन करता है, हम उसी को ईश्वर कहते हैं।

वह **अणोरणीयांसम्** है – वह अणु से भी अणु अर्थात् सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। इसका मतलब क्या है? वह सबके भीतर अनुप्रविष्ट है। सबके भीतर में भिदा हुआ है। अणु के भीतर भी भिदा हुआ है। तो जो जिसके भीतर भिदा होगा, वह तो उससे छोटा ही होगा। कमरे के अन्दर कोई सामान होगा, तो वह कमरे से छोटा ही होगा। इस प्रकार जो अणु के भीतर घुसा हुआ है, वह तो अणु से छोटा ही होगा। पर इसकी यही विलक्षणता है कि अणु के भीतर घुसा भी है और अणु को अपने में समाये हुए भी है। इस परम तत्त्व की यह विलक्षणता है। ऐसे उस दिव्य पुरुष को वह प्राप्त कर लेता है। **अनुस्मरेद्यः** – जो इस दिव्य पुरुष का अनुचिन्तन करता है, अनुस्मरण करता है, हर समय स्मरण करता रहता है, फिर **सर्वस्य धातारम्** - वह सबको धारण करनेवाला तत्त्व है। वही पोषण करता है। वह **अचिन्त्यरूपम्** है – अर्थात् उसका चिन्तन नहीं हो सकता है। जैसे प्रेम का निर्वचन सम्भव नहीं होता। वह तो अनुभवगम्य है। उसी प्रकार परम दिव्य पुरुष भी चिन्तन से परे है। वह **आदित्यवर्ण** है – वह ज्योतिस्वरूप है। **तमसः परस्तात्** – समस्त अज्ञान के परे है। उसमें कहीं भी अन्धकार नहीं है। यहाँ पर दो बातें एक समय कही गयीं – एक यह कि वह ज्योतिस्वरूप है और दूसरी यह कि उसमें लेशमात्र भी कहीं पर कोई कालिमा नहीं है, या संसार की माया का स्पर्श मात्र भी नहीं है। इसका वर्णन करते हुए कहा कि ऐसा वह परम दिव्य पुरुष है, उसका अनुचिन्तन करते हुए तुम उसे प्राप्त करोगे।

दसवें श्लोक में कहा – वह उस परम दिव्य पुरुष को प्राप्त कर लेता है। कैसे पाता है? **प्रयाणकाले मनसाचलेन** - अर्थात् जिस समय हमारे प्राण शरीर को छोड़ कर चले जा रहे हैं, उस समय अचल मन के द्वारा जो ईश्वर में लगा रहे तथा **भक्त्यायुक्तः** - उसमें भक्ति का पुट हो और **योगबलेन चैव** – योग बल के द्वारा मानो वह भगवान के चरणों में निविष्ट होने में समर्थ हो। इस तरह **भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्** – वह भ्रुव के मध्य में अपने प्राण को स्थापित कर देता है। यह जो भ्रूमध्य है, इसे द्विदल पद्म कहा जाता है। जैसे कुण्डलिनी के सम्बन्ध में पढ़ते हैं कि शरीर में छः

चक्र हैं। एक-एक कर छ: चक्रों का भेदन करते हुए जब कुण्डलिनी धीरे-धीरे ऊपर उठती है और अन्त में सहस्रार में आती है। जो छठा चक्र है, वह भ्रूमध्य में रहता है, जिसे आज्ञा चक्र कहा जाता है। छठे चक्र का भेदन करने के बाद जब वह कुण्डलिनी सहस्रार में जाती है, तो समाधि हो जाती है। वही मानो योग का लक्ष्य है। तो यहाँ यह कहा गया कि भक्ति से भी युक्त है और योग का भी बल उसके पास है। उसने प्रयाणकाल में मन को अचल बना लिया है। प्राणों का नियमन करके अर्थात् भ्रूमध्य में प्राणों को निविष्ट करके वह उस परमात्मा का स्मरण कर रहा है। इस प्रकार वह परम दिव्य पुरुष को पा लेता है। यह जो हमने कहा सगुण-निराकार का उपासक कैसे उस परम तत्त्व को पाता है। उसको पाने के लिए यह सब आवश्यक है। क्या आवश्यक है? **अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना** – अभ्यासयोग से युक्त बने, अपने चित्त को इधर-उधर न जाने दे । इस प्रकार परम दिव्य पुरुष का चिन्तन करते हुए परम दिव्य पुरुष को पाता है।

अर्जुन के मन में प्रश्न उठा होगा कि परम दिव्य पुरुष कौन है? उस परम दिव्य पुरुष को वह कैसे पाता है। इस प्रकार ९वें श्लोक में परम दिव्य पुरुष की व्याख्या की कि वह क्या है ? वह त्रिकाल द्रष्टा है, वह पुराण है, वह अनुशास्ता है, वह अणु से भी अणु है। वह अत्यन्त सूक्ष्म है और सबका धारण करनेवाला है। वह अचिन्त्यरूप है। वह आदित्य-वर्ण और समस्त अन्धकार से परे है। इसका चिन्तन करता है, तो उसको पाता कैसे है? प्रयाण के समय मन को अचल बना ले, भक्ति से युक्त हो जाए। भगवान के गुण हमारे भीतर भक्ति को जन्म देते हैं। जैसे भगवान में करुणा है। भगवान में दया है। भगवान हमसे अत्यन्त प्रेम करते हैं। इन गुणों के कारण हमारे मन में भक्ति उपजती है। इस प्रकार भक्ति से युक्त होकर, योगबल से बलीयान होकर, प्राणों को सम्यक् प्रकार से भ्रूमध्य में स्थापित कर दें। अर्थात् प्राणों को भ्रूमध्य में लाकर कुम्भक कर दें। कुम्भक करने से वह उस परम दिव्य पुरुष को पा लेता है। इस प्रकार सगुण-निराकार का उपासक दिव्य पुरुष को पा लेता है।

पुन: ११वें, १२वें और १३वें श्लोक में कहा गया है कि साधक कैसे परम गति को प्राप्त होता है। यह निर्गुण निराकार का साधक है। यह ज्ञानी साधक मानो निर्गुण-निराकार की साधना करता है। कहा गया है कि सगुण-निराकार का साधक उस परम दिव्य पुरुष को प्राप्त करता है। अब तीन श्लोकों में बता रहे हैं कि कैसे निर्गुण-निराकार का उपासक उस परम गति को पाता है।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ।।११।।

वेदविद: (वेदज्ञ लोग) यत् (जिसको) अक्षरं (अक्षर पुरुष) वदन्ति (कहते हैं), वीतरागा: (अनासक्त) यतय: (यतिगण) यत् (जिसमें) विशन्ति (प्रवेश करते हैं) यत् (जिसको) इच्छन्त: (जानने की इच्छा करके वे) ब्रह्मचर्यं चरन्ति (ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हैं), तत् पदं (उस परमपद को) ते (तुमको) संग्रहेण (संक्षेप में) प्रवक्ष्ये (कहता हूँ)।

'वेद के जाननेवाले जिसे अक्षर कहते हैं, अनासक्त यतिगण जिसमें प्रविष्ट होते हैं तथा जिसको जानने की इच्छा करके वे ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उस (परम) पद को मैं तुमको संक्षेप में बताऊँगा।'

यहाँ पर अर्जुन से कहा गया - जिसको वेदविद् लोग अक्षर कहते हैं। वेदविद् वे जो वेदों के जाननेवाले हैं। ये वेदों की अनुभूति करनेवाले नहीं, केवल जाननेवाले हैं। अनुभूति और ज्ञान ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं। अनुभूति एक उच्च अवस्था है। जैसे मैंने उपनिषदों से जान लिया कि जगत् मिथ्या है और ब्रह्म सत्य है। यह ज्ञान हो गया, पर ज्ञान और अनुभूति समान नहीं है। अनुभूति किसे कहेंगे? जब मुझे अनुभव हो जाएगा कि एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है या जो नामरूपात्मक जगत दिखाई देता है, यह सचमुच अनित्य है, इसीलिए मिथ्या है। यह जगत कुछ समय के लिए सत्य लगता है और फिर नष्ट हो जाता है। व्यक्ति सौ साल तक रहता है, फिर खोजने पर भी नहीं मिलता। मैं किसी को प्यार करता हूँ और उसके रूप का विचार करता हूँ। कल यदि वह काल-कवलित हो जाता है, तो फिर मैं उसे कितने भी लोकों में ढूँढ़ता फिरूँ, उसे मैं कहीं भी नहीं पाऊँगा। एक बार जो रूप नष्ट हो गया, वह फिर कभी नहीं मिलता है। **(क्रमशः)**

भारतीय चिन्तन की देव-दृष्टि : एक ऐतिहासिक पर्यालोचन

राजलक्ष्मी वर्मा

प्राध्यापिका, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

(गतांक से आगे)

रामकाव्य और कृष्णकाव्य में भी ईश्वर के सगुण रूप को आश्रय बनाकर श्रेष्ठ कोटि का साहित्य सृजित हुआ। रामकाव्य के प्रतिनिधिभूत कवि सन्त तुलसीदास हैं। उन्होंने श्रीराम के चरित्र को केन्द्र में रखकर जिस काव्य की रचना की, उसने रामकाव्यधारा ही नहीं अपितु समस्त हिन्दी साहित्य को आलोकित किया। उनके द्वारा लिखा गया, 'श्रीरामचरितमानस' धर्म-दर्शन, अध्यात्म, काव्यसौन्दर्य और लोकचेतना का मानो दर्पण है। तुलसी के साहित्य का आश्रय लेकर रामभक्ति की धारा उनके जीवनकाल से लेकर आज तक अबाध गति से प्रवाहित हो रही है। कृष्णकाव्य के प्रमुख कवियों में सूरदास, नन्ददास और मीराबाई हैं, जिनकी वाणी में श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व अपनी अलौकिक दिव्यता और मोहकता के साथ व्यक्त हो रहा है। रामाश्रित और कृष्णाश्रित दोनो ही भक्ति-सम्प्रदायों में परब्रह्म के सगुणरूप की उपासना की गयी। सगुणरूप के उपासक इन कवियों ने मूर्तिपूजा और चित्तशुद्धि के साधनरूप बाह्याचारों का खण्डन नहीं किया। करने की आवश्यकता भी नहीं थी, क्योंकि वे किसी धार्मिक सम्प्रदाय या शास्त्रीय मतवाद की स्थापना करने नहीं निकले थे, वे तो अपने इष्ट की स्वरूपानुभूति में डूबे हुए आनन्दविह्वल कवि थे, जिनकी वाणी परमात्मा की दिव्यता, सुन्दरता और करुणा का बखान कर रही थी। अपनी ईश्वरानुभूति में ये कवि ऋषितुल्य थे, इसीलिए इनकी कविता में वह प्रामाणिकता थी, जो भारतीय समाज को दिशा दे सकी, उसका संस्कार कर सकी। यदि यह कहा जाय कि जन-जन के हृदय में राम और कृष्ण को प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्यों से अधिक इन कवियों का है, तुलसी सूर और मीरा का है, तो अत्युक्ति नहीं होगी।

यह बड़ी रोचक परिस्थिति है कि कई बार ईश्वर के निर्गुण और सगुण रूप एक-दूसरे की प्रतिद्वन्द्विता में आमने-सामने खड़े हो गये, 'को बड़-छोट, कहत अपराधू' और इससे भी रोचक बात यह है कि इन्हें परस्पर जोड़ने वाली भक्ति की धारा एक है। साधारण व्यक्ति के मन में निर्गुण-सगुण का विवाद भ्रम और द्विविधा की स्थिति उत्पन्न करता है। इस द्विविधा को दूर करने का महनीय कार्य किया है सन्त तुलसीदास ने। तुलसीदास ने हर प्रकार के वैषम्य को दूर कर अपने काव्य में अत्यन्त समन्वयवादी दृष्टिकोण रखा है। भगवान शिव को रामचरित का आदिवक्ता सिद्ध कर और श्रीराम के समान ही भगवान शिव के प्रति आस्था और भक्ति प्रदर्शित कर उन्होंने शताब्दियों से चली आ रही शैवों और वैष्णवों के कलह को समाप्त किया। अपने दृष्टिकोण में अद्वैत और विशिष्टाद्वैत का समन्वय कर ईश्वर के निर्गुण और सगुण दोनो ही रूपों को स्वीकार किया –

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा।
अकथ अगाध अनादि अनूपा।। (रा.च.मा १/२२/१)

निर्गुण और सगुण के भेद को नकारते हुए तुलसी कहते हैं कि जो निर्गुण निराकार अलक्ष्य अजन्मा परमात्मा है, वही भक्तों पर कृपा कर सगुण साकार रूप में प्रकट होता है। जैसे जल, हिम और ओले में कोई अन्तर नहीं है, वैसे ही निर्गुण और सगुण ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है –

सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा।
गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा।।
अगुन अरूप अलख अज जोई।
भगत प्रेम बस सगुन सो होई।।
जो गुनरहित सगुन सोइ कैसें।
जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसें।।

(रा.च.मा १/११५/१-३)

इस प्रकार तुलसी ने अपनी रचनाओं के द्वारा तत्कालीन

समाज में व्याप्त धार्मिक और वैचारिक मतभेदों को दूर कर धर्म का एक समन्वयात्मक रूप लोगों के सामने रखा। भक्तिकाल के कवियों में कबीर और तुलसी दो ऐसे सन्त थे, जिन्होंने ईश्वर के प्रति सहज रागात्मिका भक्ति के द्वारा समाज का संस्कार और कल्याण करने में सर्वाधिक सफलता पायी।

भारत का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि जब-जब भारत की चेतना शिथिल हुई है, या उसकी वैचारिक क्षमता क्षीण हुई है, चिन्तकों और बुद्धिजीवियों ने उसे कभी थपकी तो कभी चोट देकर सावधान किया है, जागृत किया है। मध्यकाल की भाँति उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में भी ऐसी ही एक परिस्थिति आयी, जब हिन्दू समाज या कहें कि सम्पूर्ण भारतीय जाति ही आत्महीनता और आत्मविस्मृति के गहरे अन्धकार में डूबने लगी। अंग्रेजी शासन की रीति-नीति और वैचारिक प्रभुत्व ने उसे यह समझा दिया कि उसकी अपनी संस्कृति, अपना धर्म कुरीतियों और अन्धविश्वासों के मकड़जाल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। पराधीन मानसिकता, अशिक्षा और दरिद्रता से ग्रस्त भारतीयों ने भी सिर झुका कर उनकी बात मान ली।

इन परिस्थितियों में एक बार फिर इस देश के चिन्तकों और संन्यासियों ने धर्म के शाश्वत आलोक से ही भारतीय जाति के मन से छाया अन्धकार दूर किया। इस बार भी इतिहास ने स्वयं को दोहराया। दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना कर वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा की, यज्ञधूम फिर वातावरण को पवित्र करने लगा। उन्होंने हिन्दू समाज में व्याप्त अनेक अन्धविश्वासों को दूर कर समाज की सर्वांगीण उन्नति का प्रयास किया। ब्राह्मसमाज पर ईसाई धर्म का कुछ प्रभाव था, उसने मूर्तिपूजा और ईश्वर के सगुण रूप को प्रश्रय न देकर उनके सर्वव्यापक निराकार रूप की उपासना के द्वारा समाज का संस्कार और धर्म का उदारीकरण प्रारम्भ किया, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से भारतीय धार्मिक चेतना और वैचारिक समृद्धि की विश्वव्यापी प्रतिष्ठा श्रीरामकृष्ण परमहंस और उनके शिष्यों के द्वारा हुई, जिनमें स्वामी विवेकानन्द अग्रगण्य थे। जैसे मध्ययुग में सन्त कवियों ने धर्म के क्षेत्र में एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण रखा था, वैसे ही उन्नीसवीं शताब्दी में तत्कालीन चिन्तकों द्वारा धर्म के सम्प्रदाय-निरपेक्ष उदार स्वरूप की प्रतिष्ठा की गयी। इस क्षेत्र में सबसे बड़ा योगदान श्रीरामकृष्ण देव का रहा। वे कोरे बुद्धिवादी या आग्रही तार्किक नहीं थे। अपितु आत्मसाक्षात्कारसम्पन्न एक उच्चकोटि के साधक थे। उन्होंने न केवल सनातन धर्म के अन्तर्गत विभिन्न साधन-पद्धतियों के द्वारा ईश्वरानुभूति प्राप्त की, अपितु इस्लाम और ईसाई मत की साधनाओं के द्वारा भी ईश्वर का साक्षात्कार किया। इस प्रकार उन्होंने यह सिद्ध किया कि सभी धर्म उस एक ईश्वर तक पहुँचने के ही विभिन्न मार्ग हैं। उन्होंने ईश्वर के सगुण और निर्गुण दोनो ही रूपों को सत्य स्वीकार कर कहा कि निराकार जल जैसे ठंडक में जम कर बर्फ बन जाता है, वैसे ही सर्वव्यापक निराकार निर्गुण परमात्मा अपनी करुणा और भक्त की भावना के वशीभूत होकर साकार रूप ग्रहण कर लेता है। अपनी व्यक्तिगत अनुभूति की प्रामाणिकता के आधार पर उन्होंने सनातन हिन्दू धर्म के सम्प्रदायों के पारस्परिक विरोधों का शमन किया और भारत में प्रचलित इस्लाम और ईसाई मत जैसे आगन्तुक मतवादों के साथ भी सद्भाव और संवाद की पहल की। श्रीरामकृष्ण देव का जीवन उपनिषदों के शाश्वत सिद्धान्त 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'–'यह सब कुछ वह परमात्मा ही है' तथा 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'– 'उस एक ही सत्य को विद्वान् अनेक प्रकार से कहते हैं' का व्यावहारिक निदर्शन था।

उन्नीसवीं-बीसवीं शती के इस सर्वसमावेशी चिन्तन ने ही वर्तमान ईश्वरविषयक चिन्तन की नींव रखी। वर्तमान भारत में भूमण्डलीकरण के प्रभाव के कारण अनेक नवीन विचारधाराओं और आयातित जीवनमूल्यों का प्रवेश हुआ है। आधुनिकता की दिशाभ्रष्ट परिभाषाओं के कारण भी एक सांस्कृतिक असमंजस का वातावरण है। अनेक विचारधाराएँ और जीवन-दर्शन ऐसे भी हैं, जो भारतीय संस्कृति की मौलिक वृत्तियों से अत्यन्त विपरीत हैं। भारत का सांस्कृतिक चिन्तन स्वयं को पुनः परिभाषित करने की प्रक्रिया में है, आस्था और अनास्था के अनेक वृत्त हैं। वैसे भारतीय संस्कृति के लिए यह वैचारिक संघर्ष कोई नई बात नहीं है, अपने दीर्घजीवन में वह अनेक बार आत्मशोधन और आत्ममंथन कर अपने नये-नये संस्करण प्रस्तुत कर चुकी है। यह तो समय ही बतलायेगा कि किन जीवन-मूल्यों को वह अपने रंग में रंग लेगी, या फिर वे ही उसमें एक और रंग भर देंगे !

प्रश्न उठता है कि इस संक्रमणशील युग में धर्म और ईश्वर की स्थिति क्या बन रही है? यहाँ तो दृश्य और भी

रोचक हो उठा है; पश्चिम के एक त्रिकालदर्शी चिन्तक ने भले ही शपथ लेकर घोषणा कर दी हो कि ईश्वर मर गया है, किन्तु भारतीय चेतना में तो वह शत-सहस्र रूपों में अपनी पूरी गरिमा, और ऐश्वर्य के साथ सिंहासनासीन है। कहा जाता है कि भारतीय संस्कृति अध्यात्मनिष्ठ संस्कृति है और भारत एक धर्मप्राण देश है। सुनने में यह एक घिसी-पिटी बात लगती है, पर सच्चाई तो यह है कि यही इस देश का सबसे बड़ा सच है। उसे धर्म से और ईश्वर से अलग नहीं किया जा सकता। भारतीय जन-मानस को भले ही धर्म का सही स्वरूप समझ में न आये, या भूल से किसी परिस्थिति में वह अधर्म को ही धर्म समझ ले, किन्तु धर्म के नाम पर वह कुछ पकड़े अवश्य रहता है। ईश्वर के रूप में वह चाहे अल्लाह के आगे माथा नवाये, चाहे ईश्वरपुत्र जीसस के आगे झुके, राम की भक्ति करे या कृष्ण की, महावीर और बुद्ध उसकी आस्था का केन्द्र हों या फिर गुरुग्रन्थ साहब को ही धर्म का सर्वस्व समझे अथवा किसी सन्त महापुरुष में ही ईश्वर बुद्धि रखे, किन्तु 'त्राता' के रूप में उसे ईश्वर या ईश्वर जैसा ही कोई चाहिए। यह अकारण नहीं है, इसमें एक रहस्य है।

जिस प्रकार भौतिक जगत पाँच प्रकार के तत्त्वों का पंचीकरण है, वैसे ही वैचारिक जगत भी पाँच प्रकार की सत्ताओं का पंचीकरण है। ये पाँच सत्ताएँ हैं – व्यक्ति, समूह, देश (भूगोल) काल (इतिहास) और कालातीत या शाश्वत। सत्ता के ये पाँच समकेन्द्रिक वृत्त हैं, केन्द्र में है व्यक्ति या अस्मिता। यह अस्मिता ही वैचारिक जगत का केन्द्र है। मनुष्य के मन के निर्माण में समूह, देश, काल और शाश्वत की भूमिका होती है। समूह का अर्थ है वह परिवार या समाज जहाँ वह जन्म लेता है या पलता-बढ़ता है, देश का अर्थ है, वह स्थान-विशेष जहाँ वह रहता है अर्थात् भूगोल और काल का अर्थ है, वह समय-खण्ड जिसमें वह जीवित है अर्थात् इतिहास। ये सब मनुष्य के संस्कारों पर, उसकी मानसिकता पर अपना-अपना प्रभाव कम या अधिक अंशों में डालते हैं। समूह, देश और काल के ये वृत्त समयसापेक्ष या परिवर्तनशील हैं, किन्तु मनुष्य को घेरने वाला एक और वृत्त है 'शाश्वत' या महाकाल का वृत्त, जो असीम और अनन्त है। व्यक्ति-सत्ता को आवृत करने वाला महाकाल का यह शाश्वत वृत्त सर्वत्र एक-सा है और यह परिवर्तनशील समूह और देश-काल की भाँति बदलता नहीं। इस महाकाल के वृत्त में ही जीवन के सारे स्थायी और चिरन्तन मूल्य निहित हैं और मनुष्यता को परिभाषित करने वाले इन शाश्वत मूल्यों का चरम प्रतीक ईश्वर है। समय-समय पर इस ईश्वर को झुठलाने का प्रयत्न राजनीति या किसी सम्प्रदाय या विचारधारा-विशेष के द्वारा किया जाता रहता है, परन्तु मनुष्यता से गुंथी हुई होने के कारण 'ईश्वरता' या 'भगवत्ता' का अपलाप हो नहीं पाता। निराकार, साकार या प्रतीकरूप किसी ईश्वर के बिना, कुछ कठिनाई से ही सही, व्यक्ति का काम चल जाता है, किन्तु 'ईश्वरता' के बिना नहीं चलता। ईश्वरत्व से तात्पर्य है 'सत्, चित् और आनन्द' से जुड़े जीवनादर्श, अर्थात् सत्य ज्ञान शुभ और सौन्दर्य से जुड़े मूल्य। इन मूल्यों के बिना अर्थात् प्रेम, करुणा, सहानुभूति, त्याग, क्षमा, साहस, ऊर्ध्वगामिता और सौन्दर्यबोध के बिना मनुष्यता का अस्तित्व ही असम्भव है। यही वे मूल्य हैं, जो मनुष्यता को परिभाषित करते हैं और किसी देश-काल में कभी नहीं बदलते। यदि विचार कर देखें, तो पता चलेगा कि जिसे हम 'ईश्वर' कहते हैं, चाहे वह किसी भी धर्म का 'ईश्वर' क्यों न हो, वह इन सकारात्मक मूल्यों का ही एकीकृत सम्प्रत्यय या मानवीकृत रूप है। जिस संस्कृति का मूल्यबोध जिस प्रकार का है, उसकी ईश्वरविषयक अवधारणा भी उसी प्रकार की है। वस्तुतः मनुष्य की 'मनुष्यता' और ईश्वर की 'ईश्वरता' दो अलग बातें नहीं हैं, दोनों में प्रतीयमान अन्तर परिमाण का है, प्रकृति का नहीं। मनुष्य और ईश्वर एक ही चेतना के दो बिन्दु हैं, इन दो बिन्दुओं को जो सीधी रेखा जोड़ती है, वही धर्म है। यदि जोड़े तभी धर्म है, और न जोड़े, तो धर्म नहीं है, और कुछ भी हो सकता है। मनुष्य के भीतर उसकी स्वरूपभूत जो ईश्वरता या दिव्यता है, उसका प्रकाशन ही धर्म का एकमात्र लक्ष्य है। समूह, संस्कार, देश-काल के प्रभाव से धर्म का बाह्य रूप भिन्न हो सकता है, किन्तु आत्मा या आन्तरिकता यही है। **(क्रमशः)**

उठो, साहसी बनो, वीर्यवान होओ । सब उत्तरदायित्व अपने कन्धे पर लो – यह याद रखो कि तुम स्वयं अपने भाग्य के निर्माता हो । तुम जो कुछ बल या सहायता चाहते हो, सब तुम्हारे ही भीतर विद्यमान है ।

– स्वामी विवेकानन्द

साम्प्रदायिकता

भगिनी निवेदिता

(भगिनी निवेदिता की १५० वीं जन्म-जयन्ती के उपलक्ष्य में यह लेखमाला 'विवेक ज्योति' के पाठकों के लाभार्थ आरम्भ की गई है। – सं.)

बहुधा कहा जाता है कि अनेक सम्प्रदायों से हानि होती है। यद्यपि ऐसी बातें कुछ सत्य मान ली जाती हैं, किन्तु ऐसा सोचना अविवेकपूर्ण है। सम्प्रदायों का सदुपयोग और दुरुपयोग – यह विषय अत्यन्त विचारणीय है।

मत-मतान्तर से सम्बन्धित व्यर्थ की बातों से कलह होता है। यह सर्वथा हानिकर और निन्दनीय है, क्योंकि इन तुच्छ विषयों के कारण समाज का विभाजन होता है। यदि इसे सम्प्रदायों की विशिष्टता मानी जाए, तो ऐसे सम्प्रदाय जितने कम हों, उतना ही अच्छा होगा। ऐसे सभी सम्प्रदाय हानिकर माने जाने चाहिए और किसी भी मूल्य पर उनका निर्माण नहीं होना चाहिए। किन्तु क्या भेदभाव करना ही सम्प्रदाय की अनिवार्यता होनी चाहिए?

मनुष्य की इच्छा रहती है कि वह समान आदर्श की पृष्ठभूमि में दूसरों से जुड़ें, न कि दूसरों से पृथक् हो। उसकी यही इच्छा सम्प्रदाय का निर्माण करती है। सम्प्रदाय एक संघ (चर्च) के समान होता है । इसका प्रचलित सटीक अर्थ – 'निष्ठावान लोगों का संगठन' माना गया है। इसके अनुसार स्वेच्छापूर्वक किसी भी विद्वत्तापूर्ण चिन्तन अथवा विचार के लिए संयुक्त लोगों के संगठन को हम सम्प्रदाय अथवा संघ कह सकते हैं। एक प्रकार से चिकित्सा संस्था अथवा एशियाटिक सोसायटी के सदस्यों के समागम को भी सम्प्रदाय (चर्च) कहा जाएगा, क्योंकि ये किसी निश्चित विचार के प्रति निष्ठावान रहते हैं। यदि ऐसा मानें तो सम्प्रदाय एकता का दृढ़तापूर्वक प्रतिपादन करता है, असमानता का नहीं; यह जोड़ने का कार्य करता है, न कि पृथक् होने का; यह भाईचारे की भावना जागृत करता है, न कि विभाजन की।

अब हम उन सम्प्रदायों को देखें, जो किसी विशिष्ट मत अथवा विचारधारा पर आधारित हैं, जिन्हें हम धर्मसंघ कहते हैं। क्या इस प्रकार के सम्प्रदायों का संसार में कोई उदार और बृहत् प्रयोजन नहीं है, जिससे हम कुछ सीख सकें? अवश्य ही इनकी उपादेयता है। सर्वप्रथम तो वे एक समुदाय का निर्माण करते हैं, जो लगभग एक घर के समान होता है। समुदाय के निर्धन, संघर्षरत सदस्य के लिए समुदाय के अन्य लोग सहायता प्रदान करते हैं, क्योंकि समान धर्म-भावना होने के कारण वे उसका हित सोचते हैं और संसार के अत्याचार और उपेक्षापूर्ण व्यवहार से उसकी रक्षा करते हैं। सम्प्रदाय का यह दृष्टिकोण हमें यहूदी, जैन और पारसी समाज में दिखता है।

सम्प्रदाय एक विद्यालय भी है। इसके सदस्यों के बच्चों में विचारों की विरासत रहती है। सम्प्रदाय की यह जिम्मेदारी है कि वह इन विचारों में उन्हें सुशिक्षित करे। यदि उन बच्चों का जन्म सैन्यप्रधान सम्प्रदाय में होता है, तो सैनिकों का आदर्श, अनुशासन और एकता – ये गुण उनको जन्म से ही प्राप्त होते हैं।

सम्प्रदाय एक कर्मक्षेत्र है। उसके प्रत्येक सदस्य के बाह्य जीवन में वह एक मार्गदर्शक की भूमिका निभाता है और उसे नैतिक उत्साह प्रदान करता है। सम्प्रदाय का गौरव उसके प्रत्येक अनुयाइयों की उच्च उपलब्धियों पर निर्भर करता है। कर्मक्षेत्र में भेजने पर वह उसे विदाई-अभिनन्दन देता है और सफल होकर लौटने पर उसका स्वागत करता है। सम्प्रदाय अपने सदस्य के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कार्य को सुरक्षित रखता है और इसका पालन करने वाले अन्य लोगों को भी उपलब्ध कराता है। रोजगार और उद्योग हेतु सुदूर नगरों में जाने वाले अपने युवक-सदस्यों के लिए सम्प्रदाय आवास की व्यवस्था तथा परिचित जनों से सम्पर्क कराता है। सम्प्रदाय की ध्वज-पताका उसके सदस्यों के लिए माता, गुरु, मित्र, अभिभावक, और सेनापति की एक साथ भूमिका निभाती है। क्या इस प्रकार के सम्प्रदाय पूर्णतया अनर्थकारी हैं?

तथापि सम्प्रदाय का परम उद्देश्य सम्प्रदायों के परे जाने में है। यह सोचना बहुत बड़ी भूल है कि दूसरे सम्प्रदायों से सत्य की अनुभूति नहीं हो सकती । हमारे जीवन का प्रत्येक

शेष भाग पृष्ठ २३२ पर

झाड़ू लगाना ही मेरी साधना है

योगेश दास श्रीमाँ सारदा देवी के अनन्य भक्त थे । वे कहार के रूप में माँ की सेवा करते थे। जयरामबाटी में माँ के घर का आँगन वे कभी-कभी बुहारकर साफ करते थे। उनकी पाँच पुत्रियाँ थीं और कोई पुत्र नहीं था। एकदिन उन्होंने माँ के पास आकर बड़े खेदपूर्वक कहा, 'माँ, मुझे पाँच पुत्रियाँ हैं और वे अपनी माँ के साथ कामकाज करती हैं। यदि मेरा एक पुत्र होता, तो उसे मैं अपने साथ लाकर आपकी सेवा में लगाता। माँ ! मेरी आपसे प्रार्थना है कि मुझे सन्तान के रूप में पुत्र प्राप्त हो। इसके बिना मुझे शान्ति नहीं मिलेगी।' श्रीमाँ सारदा देवी ने कुछ क्षण सोचकर कहा, 'ठीक है, मैं ठाकुर से प्रार्थना करूँगी।'

अगले वर्ष योगेश दास के घर पुत्र का जन्म हुआ। उसकी खुशी का ठिकाना न रहा। वह दौड़ता हुआ माँ के पास आया और कहा, 'माँ, आपकी कृपा से मेरे घर पुत्र का जन्म हुआ है।' माँ ने प्रसन्नतापूर्वक कहा, 'तो अब तुम्हे शान्ति मिली।' उसने कहा, 'हाँ माँ, अब मेरा मन पूरी तरह से शान्त है।' माँ ने कहा, 'तो अपने बेटे का नाम शान्ति रखना।'

शान्तिराम की अन्नप्राशन विधि के समय माँ ने उसे स्वर्णजड़ित कंगन का एक जोड़ा दिया था, जिसे उसने जीवन-भर संभालकर रखा। उसके परिवार का यह विश्वास था कि लक्ष्मीस्वरूपा श्रीमाँ द्वारा प्रदत्त यह कंगन उनके घर आने से उनकी आर्थिक स्थिति बहुत सुधर गई है।

शान्तिराम बढ़ने लगा । वह अपने पिता के साथ श्रीमाँ सारदा देवी के पास आता। उसके पिता एक कन्धे पर शान्तिराम और दूसरे कन्धे पर अपनी सबसे छोटी बेटी को लेकर श्रीमाँ के पास आते थे। माँ के पास जो कोई भी फल रहता, वे उसे बराबर दो भागों में बाँटकर उन दोनों को देतीं, ताकि वे झगड़ा न करें। नन्हा शान्तिराम अपने पिता को माँ के आँगन में झाड़ू लगाते देखकर स्वयं भी झाड़ू लगाता था। उसके नन्हे हाथों में बड़ा झाड़ु बड़ी मुश्किल से आता था। माँ ने यह देखकर उसे एक छोटा सा झाड़ू दिया और स्नेहपूर्वक कहा, 'यह तुम्हारे लिए है, इससे तुम अपनी सेवा कर सकते हो।' उसके बाद वह नियमित रूप से बिना चूके, उत्साह और भक्तिभाव से यह सेवा करता रहा।

श्रीमाँ सारदा देवी का स्वास्थ्य खराब होने के कारण उन्हें कोलकाता स्थानान्तर करना पड़ा। माँ जब जा रही थीं, तब शान्तिराम अश्रुपात करते हुए माँ से बोला, 'माँ, अब मैं किसके लिए सेवा करूँगा।' माँ ने स्नेहपूर्वक कहा, 'बेटा, तुम यह सोचकर अपनी सेवा जारी रखना कि मैं हमेशा यहाँ विद्यमान हूँ और तुम्हें देख रही हूँ।' शान्तिराम सरल हृदय का था। माँ की बातों पर पूरा विश्वास रखकर वह उसी निष्ठा से सेवा करता रहा, जिस प्रकार वह पहले करता था।

समय बीतता गया । १९२० में श्रीमाँ की महासमाधि के बाद उनके जन्मस्थान जयरामबाटी पर मन्दिर निर्माण का कार्य शुरू किया गया । इस प्रकार १९२३ में माँ के जन्मस्थान पर मन्दिर की प्रतिष्ठा हुई। परिस्थितियाँ बदल गई थीं, किन्तु शान्तिरामजी की निष्ठा और भक्ति में कोई परिवर्तन नहीं आया। सर्दी, गरमी, बरसात चाहे कुछ भी हो, शान्तिराम सुबह झाड़ू लेकर आश्रम पहुँच जाते और आनन्दपूर्वक झाड़ू लगाकर माँ की सेवा करते। अपनी इस सेवा के लिए उन्होंने कभी भी पैसे अथवा आर्थिक सहायता नहीं ली। वे अपने गाँव के चौकीदार थे और उससे प्राप्त आजीविका से उनकी घर-गृहस्थी चल जाती थी, किन्तु अधिकतर समय वे आश्रम में ही रहते थे।

उनके वृद्ध हो जाने पर आश्रम के लोगों ने उन्हें झाड़ू लगाने को मना किया, किन्तु वे अपनी सेवा को विराम देने को तैयार नहीं थे। यदि कोई उनसे कहता कि तुम यह काम बन्द कर दो, तो वे कहते, 'तुम कौन होते हो मुझे यह कहनेवाले? माँ ने मुझे यह सेवा दी है। मैं उनका सेवक हूँ। माँ ने मुझे साधन-भजन या शास्त्र पढ़ने के लिए नहीं कहा। यह झाड़ू लगाना ही मेरी साधना है, माँ के प्रति सेवा है।' जब तक वे शय्याशायी नहीं हो गए, उनकी सेवा नियमित रूप से चलती रही। अन्तिम समय में स्मित हास्य के साथ माँ का नाम लेते हुए उन्होंने शरीर छोड़ दिया। ○○○

भारत की ऋषि परम्परा (१७)

स्वामी सत्यमयानन्द

बृहस्पति

बृहस्पति प्रजापति ऋषि अंगिरस के पुत्र थे। उनकी माता का नाम वसुधा (अथवा श्रद्धा) था। उनके सात भाई थे और वे उनमें दूसरे थे। बृहस्पति देवताओं के गुरु के रूप में प्रसिद्ध हैं। उन्हें अनेक सिद्धियाँ प्राप्त थीं। उनका एक नाम ब्रह्मणस्पति भी है। वैदिक और उत्तर-वैदिक काल में विभिन्न भूमिकाओं में उनका वर्णन प्राप्त होता है। एक ऋषि, बृहस्पति नक्षत्र के अधिष्ठातृ देवता तथा बृहस्पति नक्षत्र के रूप में उनकी भूमिका प्राप्त होती है। उनका वर्णन तेजोमय, पीतवर्ण के रूप में भी प्राप्त होता है, उनके शब्द वज्रसम थे। किन्तु सर्वोपरि वे पुरोहितों के आदर्शस्वरूप और देवगुरु के रूप में प्रसिद्ध हैं।

उनके बाल्यकाल और शिक्षा का बहुत कम वर्णन प्राप्त होता है। ऋषि अंगिरस के सभी पुत्र ऋषि और ज्ञानी थे। वे सुख-दुख आदि सांसारिक द्वन्द्वों से मुक्त थे। एक अन्य पौराणिक वर्णन के अनुसार अपने सात भाइयों में से बृहस्पति, उतथ्य और संवर्त प्रसिद्ध हुए।

बृहस्पति की पत्नी तारा के विषय में एक कथा प्रसिद्ध है। तारा और चन्द्रमा एक-दूसरे पर मोहित हो गए और उनके पुत्र बुद्ध हुए। यदि पौराणिक खगोल विद्या की दृष्टि से इस घटना को बृहस्पति, चन्द्रमा और बुद्ध के नक्षत्र के रूप में देखा जाए, तो विषय स्पष्टतर हो जाता है।

एक अन्य रोचक वर्णन के अनुसार देवगुरु बृहस्पति का दैत्य गुरु शुक्राचार्य के बीच विद्वेष हो गया। देवताओं को पराजित करने हेतु शक्ति अर्जित करने के लिए दैत्याचार्य शुक्राचार्य ने तपस्या द्वारा देवाधिदेव महादेव को प्रसन्न कर उनसे मन्त्र प्राप्त करने का निश्चय किया। देवराज इन्द्र को जब इस बारे में ज्ञात हुआ तो उन्होंने अपनी पुत्री जयन्ती को उनकी तपस्या को निष्फल बनाने के लिए भेजा। जयन्ती शुक्राचार्यजी के आश्रम में गई और उन्हें अपनी शिष्या के रूप में ग्रहण करने की विनती की। वे सहमत हो गए।

अनेक वर्ष तपस्या करने के बाद महादेव ने शुक्राचार्य को मन्त्र दिया। जयन्ती ने तुरन्त शुक्राचार्य के सामने विवाह का प्रस्ताव रखा। वे इसके लिए भी सहमत हो गए। बाद में उन्हें लगा कि उनके इस विवाह से केवल असुरगण ही नहीं, अपितु उनके पिता और देवगण भी अप्रसन्न हो जाएँगे। इसलिए उन्होंने जयन्ती और स्वयं को अदृश्य कर दिया। बृहस्पति ने इस स्थिति का लाभ उठाया। वे शुक्राचार्य के वेश में असुरों के सामने गए और उनको इस प्रकार उपदेश देनें लगे कि वे अपनी कुप्रवृत्तियाँ छोड़ दें। वर्ष बीतते गए। एक बार शुक्राचार्य दृश्य रूप में प्रकट हुए। उस समय असुरों में आतंक, दोषारोपण और भ्रान्ति की परिस्थिति उत्पन्न हो गई। वे असली शुक्राचार्य को स्वीकार नहीं कर रहे थे। शुक्राचार्य ने आवेश में आकर उन्हें शाप दिया और वहाँ से चले गए।

बृहस्पतिस्मृति के रचयिता बृहस्पति माने जाते हैं। ऋषि बृहस्पति का वर्णन केवल वेदों में ही नहीं, अपितु रामायण, महाभारत और अन्य पुराणों में भी आता है, जिसमें उनका व्यक्तित्व एक गहन चिन्तक के रूप में हमें प्राप्त होता है। उन्होंने देवताओं, राजाओं और ऋषियों को प्रेरक उपदेश दिए थे।

मार्कण्डेय

चन्द्रशेखराष्टकम् मार्कण्डेय द्वारा रचित भव्य स्तोत्र है। यमराज के मृत्यु-पाश से बचने के लिए मार्कण्डेयजी शिवलिंग पर लोट जाते हैं – चन्द्रशेखराष्टकम् स्तोत्र का पाठ करते समय यह दृश्य सहज हमारे मन में उपस्थित हो जाता है।

मृकण्ड मुनि की कोई सन्तान नहीं थी। वे और उनकी पत्नी सन्तान-प्रप्ति हेतु भगवान शिव की आराधना करते थे। भगवान शंकर उनकी आराधना से प्रसन्न होकर प्रकट हुए और पूछा, 'तुम्हे सन्तान की प्राप्ति होगी। क्या तुम एक गुणवान और धार्मिक पुत्र चाहते हो, जिसकी आयु केवल सोलह वर्ष हो अथवा मन्द बुद्धि, दुष्ट किन्तु दीर्घायु पुत्र चाहते हो? मृकण्ड ने स्वाभाविक ही प्रथम विकल्प को चुना। इन अत्यन्त सुन्दर बालक का नाम मार्कण्डेय हुआ। उनमें असाधारण प्रज्ञा, प्रेम और करुणा थी। उन्हें देखने मात्र से लोग प्रभावित हो जाते थे। विद्याध्ययन के लिए जब उन्हें गुरुकुल भेजा गया, तो उनकी विलक्षण मेधा से सभी आश्चर्यचकित हो गए।
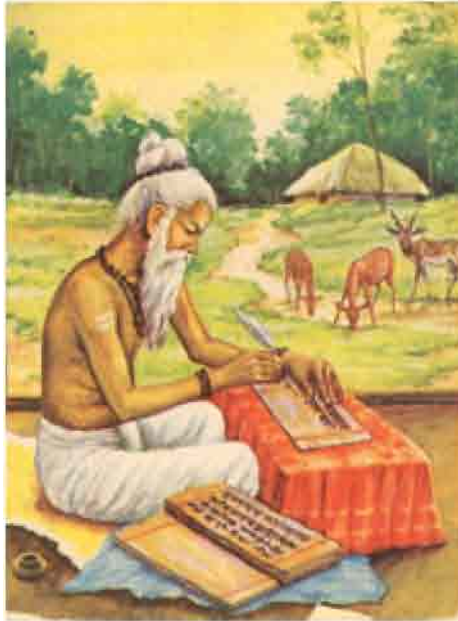
बालक मार्कण्डेय की छबि ऋषि जैसी थी। शीघ्र ही उन्होंने वेदों का गहन ज्ञान प्राप्त किया। उनके माता-पिता मानो इस जगत के सर्वाधिक सुखी व्यक्ति हों। किन्तु जैसे वर्ष बीतते गए, बेटे की अल्पायु का विचार उन्हें दुखी करता गया। उन्होंने यह रहस्य अपने पुत्र से छुपाकर रखा था, किन्तु ज्ञानी कुमार ने उनसे उनके दुख का कारण पूछा। शोकमग्न और रोते हुए उन्होंने भगवान शंकर की सब बातें अपने पुत्र को कह सुनाईं।

कुमार मार्कण्डेय में असाधारण परिपक्वता थी। सब सुनकर वे निर्विकार रहे। वे अपने स्वाध्याय, तपस्या और शिवाराधना में और अधिक निमग्न हो गए। अपने सुन्दर केश बढ़ाकर उन्होंने वल्कल वस्त्र धारण किए। जब मृत्यु का समय आया, तब भगवान शिव प्रकट हुए और उन्होंने यमराज पर प्रहार किया। इसके बाद देवताओं ने शिवजी से प्रार्थना की कि वे यमराज को पुनरुज्जीवित करें, क्योंकि उनके बिना सृष्टि में विश्रृंखलता की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी।

भगवान शिव ने मार्कण्डेय को चिरयुवा और चिरंजीवी होने का वरदान दिया, ताकि संसार को इन महापुरुष की नित्य कृपा प्राप्त होती रहे। एकबार मार्कण्डेय ऋषि की प्रचण्ड तपस्या से देवराज इन्द्र भयभीत हो गए। उन्होंने उनकी तपस्या में विघ्न डालने के लिए गन्धर्व, अप्सरा आदि की सेना को भेजा। उन्होंने बहुत प्रयत्न किया, किन्तु वे विफल होकर लौट गए। तब भगवान नारायण प्रकट हुए और मार्कण्डेय को आशीर्वाद देकर वरदान माँगने के लिए कहा। उन्होंने शुद्धा भक्ति के अलावा और कुछ नहीं माँगा तथा भगवान की माया देखने की इच्छा व्यक्त की। भगवान नारायण ने स्मित हास्य के साथ 'तथास्तु' कहा।

कुछ समय बाद जब मार्कण्डेय मुनि नदी तट पर बैठे हुए थे, उन्होंने देखा कि सहसा स्वच्छ आकाश से वायु ने प्रचण्ड वेग धारण कर लिया। प्रचण्ड वेग के साथ वह सबका ग्रास करते दिखाई देने लगा और प्रत्येक क्षण उसका प्रकोप बढ़ता जा रहा था। बिजली की कड़कड़ाती हुई चमक में सर्वत्र जल-ही-जल उन्हें दिखाई दिया। सभी जीव उसमें जलमग्न होकर काल के गाल में चले गए। केवल मार्कण्डेय ही उसमें अकेले रह गए और जल में स्वयं को स्थिर रखने का प्रयत्न करने लगे। उन्होंने जलतरंगों पर एक बड़ का पौधा देखा। उसके ऊपर की शाखा के एक पर्णपुट में उन्हें एक तेजस्वी बालक दिखाई दिया। वह अपने सुन्दर हाथों से अपना चरण पकड़कर उसे चूस रहा था। मार्कण्डेय उसकी ओर तैरकर गए। उसी क्षण वे उस बालक के श्वास के साथ उसके उदर में खिंचे चले गए। वहाँ उन्होंने स्थूल, सूक्ष्म और कारण जगत तथा उसकी उत्पत्ति और प्रलय की दीर्घ प्रक्रिया देखी। अकस्मात् उस बालक के निश्वास के साथ वे पुन: बाहर आ गए। मार्कण्डेय को तब अनुभव हुआ कि उन्होंने कुछ ही क्षणों में माया का स्वरूप और मायाधिपति को देखा।

मार्कण्डेय मुनि को मार्कण्डेयपुराण का रचयिता माना जाता है। इस ग्रन्थ में लगभग नौ सहस्त्र श्लोक हैं। **(क्रमश:)**

पृष्ठ २२९ का शेष भाग

क्षण कयामत (जड्जमेन्ट डे) का है। संसार के रंगमंच पर दूसरों की दृष्टि में अपनी गौरवपूर्ण भूमिका निभाने के बाद भी हमारे कर्मफलों के मूल्यांकन का प्रश्न बना रहेगा। क्या उस समय हम स्वयं को अहंकारपूर्वक निर्दोष बताकर इस जीवन से चले जाएँगे? अथवा हमारे जीवन का यह अन्तिम स्वर्णिम सन्देश होगा – देखिए, यह वह प्रकाश है, जो संसार के प्रत्येक व्यक्ति को मार्ग दिखाएगा?

इस सन्दर्भ में भारत का मत निश्चित है, क्योंकि इन विचारों का उद्भव इसी भूमि से हुआ है। सत्य पर किसी भी सम्प्रदाय का एकाधिकार नहीं है। कोई भी महापुरुष अथवा अवतार अन्तिम नहीं है। एकमात्र मानवता ही सम्प्रदाय का चरम स्वरूप है और भगवान बुद्ध के अनुसार मानवता में आत्मस्वरूप सभी जीवों का समावेश है।

हो सकता है कि सम्प्रदाय बनाने के दिन बीत गए हों, किन्तु उनमें निहित भाव को ग्रहण कर हम अपने जीवन को उन्नत कर सकते हैं। जिस प्रकार सम्प्रदाय एक विद्यालय, घर और भ्रातृसंघ के समान है, उसी प्रकार हमारे प्रत्येक गाँव होने चाहिए। जिस प्रकार सम्प्रदाय हमारे लिए सर्वोपरि मातृवत् है, उसी प्रकार की भावना देश और देशवासियों की हम पर हो। समान आदर्श के अन्तर्गत धार्मिक सम्प्रदाय एकत्रित होते थे, किन्तु अब हम अपनी मातृभूमि की पवित्रता से एकसूत्र में बँधे हुए हैं। प्राचीन आर्य ने इस पवित्रतम भूमि पर यज्ञवेदी स्थापित कर उसमें पवित्र अग्नि का आवाहन किया था। हमारे लिए भी प्रत्येक चूल्हा-चौका उस पवित्र वेदी के समान है। क्या हमारे घर, गाँव, शहर और देश हमें जगन्मातृत्व की विभिन्न कृपापूर्ण अभिव्यक्तियाँ प्रतीत नहीं होतीं? जगन्माता की सन्तान और उनकी विरासत के उत्तराधिकारी होकर क्या हम सब भ्रातृत्व के एकसूत्र में नहीं बँधे हैं? ○○○

पवित्रता का स्पर्श

स्वामी श्रद्धानन्द

अनुवाद : लक्ष्मीनारायण इन्दुरिया, भोपाल

पवित्रता की धारणा जीवन में बहुत महत्त्वपूर्ण है। धार्मिक व्यक्ति विभिन्न वस्तुओं और घटनाओं को पवित्रता के भाव से जोड़ता है। आध्यात्मिक भावशून्य व्यक्ति, बाईबल, भगवद्गीता या कुरान को विशेष श्रद्धा से नहीं देखता। उसके लिये वे केवल पुस्तकें हैं। लेकिन धार्मिक ईसाई, हिन्दू या मुसलमान के लिये ऐसा नहीं है। उनके लिए भगवद्गीता, बाईबल या कुरान ईश्वर की वाणी है। वे पवित्र धार्मिक ग्रन्थ हैं और विशेष श्रद्धा के योग्य हैं।

उपासकों के लिये मंदिर, गिरजाघर और मस्जिद, मात्र भवन नहीं हैं। वे ईश्वर की अदृश्य सत्ता से पूर्ण पवित्र धाम हैं। वहाँ शुद्ध मन से बैठना चाहिए।

हिन्दू भक्त वाराणसी, वृन्दावन या रामेश्वरम् जाने की इच्छा संजोकर रखता है। इन तीर्थों में ईश्वर के कई विशेष रूप प्रगट हुए हैं। कई संतों ने वहाँ रहकर ईश्वर-साक्षात्कार किया है। जेरूसलम, बैथलेहम और मक्का क्रमशः यहूदियों, ईसाइयों और मुसलमानों के पवित्र स्थान हैं। मूसा ने यह ईशवाणी सुनी, "अपने जूते उतारो, क्योंकि जिस स्थान पर तुम खड़े हो, वह पवित्र भूमि है।" वहाँ एक अद्भुत घटना घटी – झाड़ी में आग जल रह थी, लेकिन झाड़ी सुरक्षित थी। यह पवित्र घटना ईश्वर का चमत्कार थी। जार्डन और गंगा पवित्र नदियाँ हैं। कैलाश पवित्र पर्वत है। हिन्दुओं के लिए गाय पवित्र है। वर्ष के कुछ विशेष दिन अथवा दिन के कुछ पल शुभ माने जाते हैं। ऐसे ही कुछ नर-नारी पवित्र होते हैं, कुछ व्यवसाय और कार्य पवित्र होते हैं। यदि हम ईश्वर और आध्यात्मिक आदर्शों पर विश्वास रखते हैं, तो पवित्रता के विचार हमारे मन के भावनात्मक स्तर को निश्चत रूप से सुदृढ़ करते हैं। इस शक्तिशाली माध्यम से हम पवित्रता, शान्ति, भक्ति और आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि का विकास कर सकते हैं। पवित्रता का अनुभव सार्थक हो सकता है, इससे भौतिक वस्तुएँ भी इन्द्रियातीत अनुभव प्रदान कर सकती हैं।

दूसरी ओर, बिना पवित्रता की भावना के आध्यात्मिक जीवन शुष्क और सतही हो जाता है। केवल मंदिर या गिरिजाघर जाने से कोई विशेष लाभ नहीं मिलता। आध्यात्मिक वातावरण में रहकर पवित्र भावों से सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक है। यह आध्यात्मिक अनुभव की पहली कड़ी है।

ईश्वर ही सभी पवित्र भावों के मूल स्रोत हैं। अनेक धर्मों में ईश्वर के विभिन्न गुणों का वर्णन है, जैसे ईश्वर विश्व के स्रष्टा हैं, ईश्वर सर्वोच्च हैं, ईश्वर विश्व-नियन्ता हैं, ईश्वर हमारे पिता हैं, ईश्वर अनन्त शक्तिशाली हैं इत्यादि। लेकिन ईश्वर के पवित्रतम स्वरूप की धारणा हमारे मन को विशेष रूप से आकर्षित करती है। हमारा जीवन अनेक सीमाओं से आबद्ध है। हम निरन्तर वासनाओं, स्वार्थ एवं अज्ञानता से आक्रांत हैं। इसलिये निर्वासना, पूर्ण स्थैर्य, नि:स्वार्थ प्रेम और बंधनों से मुक्ति के प्रति हमारी स्वाभाविक श्रद्धा है। ये सभी गुण पवित्रता शब्द में ही समाहित हैं।

ईश्वर पवित्र हैं, क्योंकि वे वासनाशून्य और निर्दोष हैं। हमलोग अपने क्षुद्र व्यक्तित्व से आबद्ध हैं और स्वार्थ के चंगुल में फँस जाते हैं, लेकिन ईश्वर का व्यक्तित्व अनन्त है, अत: उनका प्रेम सबको समाहित कर लेता है। इसलिए जब हम ईश्वर को पवित्रतम रूप में सोचते हैं, तब हम उनकी दिव्यमय पवित्रता से ही नहीं, उनकी अनन्त शान्ति और असीम प्रेम से भी जुड़ जाते हैं।

जो साधक सिद्धि प्राप्त करना चाहता है, वह ईश्वर को सर्वशक्तिमान के रूप में सोच सकता है। दार्शनिक उनका चिन्तन आदि-स्रष्टा या सर्वज्ञ के रूप में करता है। भयाक्रान्त व्यक्ति ईश्वर को पिता रूप में मानकर उनसे भय-मुक्ति चाहता है। लेकिन जिस भक्त का आदर्श वासना और दोषों से मुक्त होना है, वह शान्ति और विशुद्ध प्रेम की ओर अग्रसर होता है तथा ईश्वर के पवित्रस्वरूप का ध्यान करता है।

हमारे भीतर दिव्यता की किरण है। यदि ईश्वर का स्वरूप परम पवित्र है, तो हम भी ईश्वरीय प्रकाश एवं प्रेम

के उत्तराधिकारी हैं। बहुधा हम इस महान आध्यात्मिक विरासत से अनभिज्ञ रहते हैं, हमारी दिव्यता सुप्त प्रतीत होती है। लेकिन यह दिव्यता सदैव सुप्त नहीं रह सकती, एक दिन यह अवश्य जगेगी। आध्यात्मिक साधना का उद्देश्य हम सभी को अपनी दिव्यता का बोध कराना है। हमारी आध्यात्मिक उन्नति के लिये पाप कोई अभेद्य दीवार नहीं है। हमारी दिव्यता हमारे पाप से हजार गुना अधिक शक्तिशाली है। बुद्धिमानी इसी में है कि हम अपने दिव्य स्वरूप, अपनी स्वाभाविक पवित्रता का स्मरण करें, और उसे अपने विचारों और कार्यों में अभिव्यक्त करें।

महान आध्यात्मिक गुरुओं ने मानव चरित्र के दुर्बल पक्ष पर अधिक महत्त्व नहीं दिया। वे जानते हैं कि व्यक्ति के संचित पाप और अपराध, सद्गुणों की बाढ़ से धुल जाते हैं – जैसे सूर्य के प्रकाश से घना अंधकार क्षण भर में दूर हो जाता है। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं –

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।९.३०।।

– यदि दुराचारी भी मुझे अनन्यभाव से भजता है, तो उसके यथार्थ निश्चय के लिये उसे साधु ही मानना चाहिये।

पैगम्बर यशायाह ने ईश्वर की वाणी सुनी थी, ''तुम्हारे लोहित जैसे पाप भी बर्फ के समान सफेद हो जाएँगे।'' हम बाईबल में पढ़ते है – यहूदी एक महिला को व्यभिचार का दोषी मानकर निन्दा कर रहे थे, तो ईसामसीह ने निन्दा से रोकते हुये उस स्त्री से कहा – ''मैं तुम्हारी निंदा नहीं करता, तुम जा सकती हो, पापकर्मों का त्याग कर दो।'' स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, ''मनुष्य कभी भी असत्य से सत्य की ओर नहीं जाता, लेकिन सत्य से सत्य की ओर, निम्नतर सत्य से उच्चतर सत्य की ओर जाता है। वह कभी भी असत्य से सत्य की ओर नहीं जाता।'' हमारे जीवन में पवित्रता कैसे आए, इसकी शिक्षा हमें संतों और ऋषियों के जीवन से मिलती है।

सबसे अधिक स्मरण रखने योग्य बात यह है कि हमारा दिव्य स्वरूप ही पवित्रता का स्रोत है। आध्यात्मिक साधना का उद्देश्य है, धीरे-धीरे अपनी दिव्यता को प्रगट करना। मंदिर, गिरिजाघर, धर्मग्रन्थ, अनुष्ठान, तीर्थाटन और साधु-संग हमें ईश्वर की उपस्थिति का बोध कराते हैं।

जीवन में पवित्रता अनुभव करने के लिये मंदिर और अनुष्ठानों की तुलना में साधुसंग प्रत्यक्ष और प्रभावकारी उपाय है।

पवित्र व्यक्ति कौन है? जिसने वासनाओं पर विजय प्राप्त कर ली है और ईश्वरीय प्रेम और प्रकाश से परिपूर्ण है। पवित्र व्यक्ति की द्वन्द्वात्मक जगत में भी समदृष्टि रहती है। पवित्र व्यक्ति समस्त विश्व को दिव्य प्रकाश से प्रकाशित देखता है। पवित्र व्यक्ति के लिये ऐसा कुछ भी नहीं है, जो ईश्वरमय न हो।

पवित्र व्यक्ति आनन्द और दया के साक्षात् विग्रह हैं। हम वास्तव में सौभाग्यशाली हैं, जब हम उनके सान्निध्य में आते हैं। हमें यथासम्भव उनका सत्संग करना चाहिए, उनकी वाणी को सुनना चाहिए तथा प्रेम और आदरपूर्वक उनकी सेवा करनी चाहिए। तब हमारे जीवन में विलक्षण परिवर्तन होगा। हमारी बहिर्मुखी प्रवृत्तियाँ धीरे-धीरे नियन्त्रित हो जाएँगी, और हमारे मानसिक द्वन्द्वों का निराकरण हो जायेगा। आध्यात्मिक जीवन में हमारी रुचि बढ़ेगी और हम सच्चे अर्थों में धर्म को समझ पायेंगे। सर्वोपरि हम अपने हृदय में ईश्वर की उपस्थिति का बोध कर सकेंगे।

धर्म रूढ़ियों और मतों का अंधानुसरण नहीं है, यह अनुभूति है। यह हमें विचार, भावना और क्रिया के श्रेष्ठतर स्तर पर उन्नत करता है। धर्म हमारे जीवन की अनुपम समृद्धि है। सत्संग से यह सब कुछ सम्भव हो जाता है।

दूसरा शक्तिशाली उपाय, जो हमारी दिव्यता को प्रगट करता है, वह है नाम-जप। लौकिक जगत में शब्द-शक्ति प्रसिद्ध है। वही शक्ति आध्यात्मिक क्षेत्र में न केवल प्रभावकारी है, अपितु उसका प्रभाव दूरगामी और सूक्ष्म है। श्रद्धापूर्वक भगवन्नाम और मन्त्र का जप करने से वह मन और शरीर में आध्यात्मिक तरंगें उत्पन्न करता है। ये तरंगें हमारी सांसारिक वासनाओं को शुद्ध करती हैं। ऐसा पवित्र और एकाग्र मन हमारी आत्मा का नित्य विराजमान ईश्वर से सम्बन्ध स्थापित कर देता है।

ईश्वर के प्रकाश और प्रेम के रूप में पवित्रता व्यक्ति में विद्यमान रहती है। पवित्रता का मूल स्रोत, वह आध्यात्मिक सत्ता है, जो हमारे व्यक्तित्व का मूल है।

आध्यात्मिक जीवन का आदर्श है सत्य को प्राप्त करना। जब हम यह करने में सक्षम हो जाते हैं, तब हम क्षुद्रता, घृणा और भ्रान्त से मुक्त हो जाते हैं, हम शान्त, शान्तिप्रिय और सभी को प्रेम करने वाले बन जाते हैं।

पवित्रता का स्पर्श हमें तथा दूसरों को धन्य कर देता है और हम प्राचीन देवताओं से अधिक प्रकाशमान बन जाते हैं। ○○○

रामकृष्ण संघ के संन्यासियों का दिव्य जीवन (१७)

स्वामी भास्करानन्द

(रामकृष्ण संघ के महान संन्यासियों के जीवन की प्रेरणाप्रद प्रसंगों का सरल, सरस और सारगर्भित प्रस्तुति स्वामी भास्करानन्द जी महाराज, मिनिस्टर-इन-चार्ज, वेदान्त सोसायटी, वाशिंग्टन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Life in Indian Monasteries' में किया है। 'विवेक ज्योति' के पाठकों हेतु इसका हिन्दी अनुवाद रामकृष्ण मठ, नागपुर के ब्रह्मचारी चिदात्मचैतन्य ने किया है। – सं.)

सदाचार की विजय होती है

स्वामी सारदेश्वरानन्द जी महाराज कामारपुकुर आश्रम के बहुत वर्षो तक अध्यक्ष थे। कामारपुकुर भगवान श्रीरामकृष्ण देव का जन्मस्थान है। एक दिन दोपहर में एक व्यक्ति स्वामी सारदेश्वरानन्द जी महाराज से भेंट करने के लिए आया। उसने कहा, "मैं आश्रम में अतिथि के रूप में दो-तीन दिन रहना चाहता हूँ।"

रामकृष्ण संघ के नियमानुसार अपरिचित व्यक्ति को आश्रम में रहने नहीं दिया जाता। यदि कोई आश्रम में अतिथि के रूप रहने का इच्छुक है, तो उसे संघ के किसी साधु का परिचय-पत्र आवश्यक है। इसलिये महाराज ने उस व्यक्ति से पूछा, "क्या तुम्हारे पास हमारे किसी संन्यासी द्वारा दिया गया कोई परिचय-पत्र है?"

उसने कहा, "नहीं।"

महाराज ने कहा – "हमें खेद है, बिना परिचय-पत्र के हम आश्रम में किसी को रहने की अनुमति नहीं देते।"

महाराज की बातों से वह बहुत क्रोधित हो गया और चिल्ला कर बहुत देर तक महाराज को अपशब्द कहता रहा। आश्रम के कुछ भक्त एवं संन्यासी वहाँ उपस्थित थे। उनलोगों ने देखा कि वह व्यक्ति महाराज का असहनीय अपमान कर रहा है। किन्तु महाराज पूर्णत: शान्त और निर्विकार थे। उसके दुर्वचन शान्त होने के बाद महाराज ने शान्तिपूर्वक एक संन्यासी से कहा, "इन्हें प्रसाद दो।" वह बिना प्रसाद लिये ही तुरन्त वहाँ से चला गया।

अगले दिन सुबह वह व्यक्ति आश्रम में आया। स्वामी सारदेश्वरानन्द जी महाराज कुर्सी पर बैठे हुए थे। वह सीधे महाराज के पास जाकर उनके चरणों में गिर पड़ा। उसके बाद वह हाथ जोड़कर बोला, "महाराज, मैं कोलकाता का एक डाकू हूँ।" (वह कोलकाता और उसके निकटवर्ती स्थानों का कुख्यात डाकू था और पूरे राज्य के लोग उसके नाम से परिचित थे। लेकिन इसके पहले आश्रम के किसी व्यक्ति ने उसे देखा नहीं था।)

उसने महाराज से कहा, "आपके आश्रम का एक पड़ोसी आश्रम का विरोधी है। आपको अपमानित करने के लिए उसने मुझसे सौदा किया था। इसलिये मैंने आपके साथ अपमानजनक व्यवहार किया। आप निस्सन्देह एक महान सन्त हैं, क्योंकि जिस प्रकार की अभद्र भाषा का प्रयोग मैंने किया था, उससे कोई भी क्रोधित हो जाता। किन्तु आप पूर्णत: अविचलित रहे। मुझे क्षमा कीजिये और आशीर्वाद दीजिए।"

स्वामी सारदेश्वरानन्द जी महाराज ने उस डाकू को सान्त्वना दी और उसे भोजन करने के लिये कहा। लेकिन उसने उत्तर दिया, "यदि आप अनुमति दें, तो भविष्य में मैं अपनी पत्नी के साथ पुन: आऊँगा। तब क्या आप हमें इस पवित्र आश्रम में एक-दो दिन रहने की अनुमति देंगे?" महाराज ने सहमति दी।

परवर्ती काल में वह डाकू अपनी पत्नी के साथ आश्रम में आया और आश्रम के अतिथिगृह में कुछ दिन रहा। इस दौरान वह प्रतिदिन सुबह स्नान करने के पश्चात् मन्दिर में बैठकर अपनी कंठस्थ श्रीचण्डी के बहुत-से स्तोत्रों का पाठ करता था। सभी साधु एवं भक्तवृन्द उसकी ईश्वर-भक्ति को देखकर आश्चर्यचकित हो गये।

बुरे कर्म का प्रभाव

कर्म-सिद्धान्त के अनुसार अच्छा कर्म अच्छा और बुरा कर्म बुरा फल देता है। कुछ कर्म का फल हमें अविलम्ब प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए, यदि मैं अपने हाथ को आग में डालूँ, तो वह तुरन्त जल जायेगा। यहाँ पर मुझे अपना कर्मफल शीघ्र मिल गया। लेकिन कुछ कर्मों का फल देर से प्राप्त होता है । यदि मैं एक सेब का बीज बोता हूँ, तो उस बीज को वृक्ष बनने और फल देने में कई वर्ष लगेंगे। यहाँ मुझे अपना कर्मफल बहुत वर्षो बाद प्राप्त होता है। कुछ कर्मफल अगले जन्म में अपना प्रभाव दिखाते हैं। लेकिन शास्त्र कहते हैं कि अति-उग्र कर्म का फल कर्ता को इसी जन्म में प्राप्त हो जाता है। इससे कोई नहीं बच

सकता। सन्त का वध या उस पर अत्याचार करना, स्त्री का वध करना इत्यादि अति-उग्र कर्म के अन्तर्गत आते हैं।

हमारे संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी थे। वे पश्चिम बंगाल के किसी आश्रम के अध्यक्ष थे। महाराज स्वभाव के बहुत ही सरल थे। लेकिन एक पड़ोसी प्राय: उनको सताया करता था। पड़ोसी बहुत ही चिड़चिड़ा स्वभाव का था और बारम्बार छोटे-छोटे बहानों से महाराज को अपशब्द कहा करता था। महाराज का झगड़ा करने का स्वभाव नहीं था। बार-बार उत्तेजित कराने के बावजूद भी वे शान्त और अविचलित रहते थे। इससे पड़ोसी स्वयं को और भी अपमानित समझता। एक दिन वह क्रोधावेश में महाराज के पास आया और उन्हें एक थप्पड़ मार दिया। हमारे देश में इस प्रकार का व्यवहार कोई सोच भी नहीं सकता। लेकिन महाराज ने न तो कुछ कहा और न ही कुछ किया। उन्होंने शान्तिपूर्वक अपमान सह लिया।

इस घटना के बहुत दिनों बाद आश्रम द्वारा संचालित बाढ़ राहत कार्य के लिये मुझे उस आश्रम में जाना पड़ा। वहाँ मैं पहली बार गया था। तब वे वयोवृद्ध संन्यासी जीवित नहीं थे। मैं साधु निवास के द्वितीय मंजिल के एक कमरे में ठहरा था।

एक दिन मैंने अपने कमरे के खिड़की से बाहर देखा। मुझे पड़ोसी के मकान का बरामदा दिखाई दिया। मैंने वहाँ बहुत काले, दुबले और झुके हुये वृद्ध व्यक्ति को देखा। वह देखने में भयावह दिख रहा था। उसका बायाँ हाथ तो ठीक था, किन्तु दायाँ हाथ टेढ़ा और सूखी डाली जैसा था। मानो उसका दायाँ हाथ उसके शरीर के एक भाग से जुड़कर ढीला लटका रहा हो। वह विचित्र दिखनेवाला व्यक्ति अपने बाँये हाथ से जमीन पर गिरी हुई पत्तियों को धीरे-धीरे एकत्र कर रहा था।

तदनन्तर मैंने अपने साधुओं से पूछा कि वह वृद्ध व्यक्ति कौन है? उन्होंने कहा, ''यह वही व्यक्ति है जिसने बहुत वर्षों पूर्व हमारे महाराज को दायें हाथ से थप्पड़ मारा था। इस घटना के कुछ दिनों बाद उसका दायाँ हाथ लकवाग्रस्त होना शुरू हो गया। अन्तत: वह पूर्णत: कृश और वृक्ष की डाली जैसा सूख गया। हमने सुना है कि वह विभिन्न चिकित्सकों के पास गया, लेकिन कोई उसे ठीक नहीं कर सका।''

यह अति-उग्र कर्म का एक उदाहरण है। बुरा कर्म करने वाला कर्म-सिद्धान्त के अटल नियम से किसी भी प्रकार नहीं बच सका। कर्मफल पूरे वेग से दण्ड देने के लिए उसके पास आया।

शोकार्त व्यक्ति को सान्त्वना कैसे दें?

हमारे एक संन्यासी महाराज को नई दिल्ली के आश्रम का अध्यक्ष बनाया गया था। उनकी उम्र चालीस वर्ष की थी। उस आश्रम में बहुत से भक्त थे। कभी-कभी कोई अपने प्रियजनों की मृत्यु के बाद शान्ति एवं सांत्वना के लिए महाराज के पास आते थे। लेकिन वे सांत्वना देने में स्वयं को असमर्थ अनुभव करते थे। उनको लगता था कि वे कितना भी सांत्वनापूर्ण शब्द क्यों न कहें, एक माँ जिसने अपना एकमात्र बच्चा खो दिया हो, उसे किसी प्रकार भी ढाँढ़स नहीं बँधाया जा सकता।

स्वामी सारदेशानन्द

अध्यक्ष महाराज हमारे संघ के एक वयोवृद्ध एवं सन्त स्वभाव के संन्यासी स्वामी सारदेशानन्द जी महाराज (१८९५-१९८९) की बहुत श्रद्धा-भक्ति करते थे। स्वामी सारदेशानन्द जी महाराज उस समय हमारे वृन्दावन आश्रम में थे। वे श्रीमाँ सारदा देवी के शिष्य थे। वृन्दावन नई दिल्ली से अधिक दूर नहीं है। एक बार दिल्ली आश्रम के अध्यक्ष महाराज जब स्वामी सारदेशानन्द जी महाराज से मिलने गये, तो उन्होंने पूछा, ''महाराज, शोकार्त व्यक्ति जब मेरे पास सांत्वना के लिए आते हैं, तो मैं किस प्रकार से उनलोंगो को सांत्वना दूँ? मुझे समझ में नहीं आता कि मेरे शब्द किस प्रकार उन्हें समुचित सांत्वना दे सकते हैं? मुझे वे शब्द अपूर्ण लगते हैं।

स्वामी सारदेशानन्द जी महाराज ने उत्तर दिया, ''तुम्हें कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं है। इतने वर्षों के साधु-जीवन में तुम्हें अवश्य कुछ आन्तरिक शान्ति प्राप्त हुई होगी। जब कोई शोकार्त व्यक्ति तुम्हारे पास आते हैं, तो तुम्हारी इस शान्ति से ही उन्हें सांत्वना प्राप्त होगी। केवल तुम्हारी उपस्थिति मात्र से ही उनका मन धीरे-धीरे शान्त और स्थिर हो जायेगा।'' **(क्रमश:)**

आत्मबोध

श्रीशंकराचार्य

(अनुवाद : स्वामी विदेहात्मानन्द)

अहमाकाशवत्सर्वं बहिरन्तर्गतोऽच्युतः ।
सदा सर्वसमः सिद्धो* निस्सङ्गो निर्मलोऽचलः ।।३५

पदच्छेद – *अहम् आकाशवत् सर्वम् बहिः-अन्तर्गतः अच्युतः सदा सर्वसमः सिद्धः* निस्सङ्गः निर्मलः अचलः ।*

अन्वयार्थ – **अहम्** मैं **आकाशवत्** आकाश के समान **सर्वम्** सभी पदार्थों के **बहिः-** बाहर तथा **अन्तः-** भीतर **गतः** स्थित हूँ; (मैं) **अच्युतः** अपरिवर्तनीय **सदा** सदैव **सर्वसमः** सर्वत्र एक समान **सिद्धः** सिद्ध **निस्सङ्गः** निर्लिप्त **निर्मलः** निर्मल (तथा) **अचलः** अचल हूँ ।

श्लोकार्थ – मैं आकाश की भाँति सभी पदार्थों के बाहर तथा भीतर स्थित हूँ; मैं अपरिवर्तनीय सदा सर्वत्र एक समान, सिद्ध, निर्लिप्त, निर्मल तथा अचल हूँ ।

* पाठभेद – शुद्धः

नित्यशुद्धविमुक्तैकमखण्डानन्दमद्वयम् ।
सत्यं ज्ञानमनन्तं यत्परं ब्रह्माहमेव तत् ।।३६।।

पदच्छेद – *नित्य शुद्ध विमुक्त एकम् अखण्ड आनन्दम् अद्वयम् सत्यम् ज्ञानम् अनन्तम् यत् परम् ब्रह्म अहम् एव तत् ।*

अन्वयार्थ – **यत्** जो **नित्य** नित्य **शुद्ध** शुद्ध **विमुक्त** मुक्त **एकम्** एक **अखण्ड** अखण्ड **आनन्दम्** आनन्द-स्वरूप **अद्वयम्** द्वैतरहित **सत्यम्** सत्य **ज्ञानम्** ज्ञान **अनन्तम्** अनन्त **परम्** परम **ब्रह्म** ब्रह्म है, **तत्** वह **अहम्** मैं **एव** ही हूँ ।

श्लोकार्थ – जो नित्य, शुद्ध, मुक्त, एक, अखण्ड, आनन्द-स्वरूप, एकमेवाद्वितीय, सत्य, ज्ञान, अनन्त-स्वरूप परम ब्रह्म है, वह मैं ही हूँ ।

एवं निरन्तराभ्यस्ता ब्रह्मैवास्मीति वासना ।
हरत्यविद्याविक्षेपान्रोगानिव रसायनम् ।।३७।।

पदच्छेद – *एवम् निरन्तर-अभ्यस्ता ब्रह्म एव अस्मि इति वासना हरति अविद्या-विक्षेपान् रोगान् इव रसायनम् ।*

अन्वयार्थ – **एवम्** इस प्रकार **निरन्तर-** सतत **अभ्यस्ता** अभ्यास से उत्पन्न, **ब्रह्म** ब्रह्म **एव** ही **अस्मि** मै हूँ, **इति** यह **वासना** संस्कार **अविद्या-** अज्ञान (तथा) **विक्षेपान्** उसके विक्षेपों को **हरति** नष्ट कर देती है, **इव** जैसे **रसायनम्** रसायन **रोगान्** रोगों को (नष्ट कर देता है) ।

श्लोकार्थ – इस प्रकार निरन्तर अभ्यास से उत्पन्न 'ब्रह्म ही मै हूँ' – यह संस्कार अज्ञान तथा उसके विक्षेपों (विकृतियों) को उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जैसे रसायन रोगों को (नष्ट कर देता है) ।

विविक्तदेश आसीनो विरागो विजितेन्द्रियः ।
भावयेदेकमात्मानं तमनन्तमनन्यधीः ।।३८।।

पदच्छेद – *विविक्त-देशे आसीनः विरागः विजितेन्द्रियः भावयेत् एकम् आत्मानम् तम् अनन्तम् अनन्यधीः ।*

अन्वयार्थ – **विविक्त** एकान्त **देशे** स्थान में **आसीनः** बैठकर **विरागः** मन को आसक्तियों से मुक्त करके **विजितेन्द्रियः** इन्द्रियों को वश में लाकर, **अनन्यधीः** बुद्धि को एकाग्र करके **तम्** उस **अनन्तम्** अनन्त **एकम्** अद्वितीय **आत्मानम्** आत्मा का **भावयेत्** ध्यान करना चाहिये ।

श्लोकार्थ – एकान्त स्थान में बैठकर, मन को आसक्तियों से हटाकर, इन्द्रियों को वशीभूत करके, अनन्य भाव से, उस अनन्त अद्वितीय आत्मा का ध्यान करना चाहिये ।

आत्मन्येवाखिलं दृश्यं प्रविलाप्य धिया सुधीः ।
भावयेदेकमात्मानं निर्मलाकाशवत्सदा ।।३९।।

पदच्छेद – *आत्मनि एव अखिलम् दृश्यम् प्रविलाप्य धिया सुधीः भावयेत् एकम् आत्मानम् निर्मल-आकाशवत् सदा ।*

अन्वयार्थ – **सुधीः** बुद्धिमान व्यक्ति को **धिया** विवेकपूर्वक **अखिलम्** सम्पूर्ण **दृश्यम्** दृश्य जगत् को **आत्मनि** आत्मा में **एव** ही **प्रविलाप्य** विलीन करके, **सदा** निरन्तर **निर्मल-** निर्मल **आकाशवत्** आकाश जैसे **एकम्** अद्वितीय **आत्मानम्** आत्मा का **भावयेत्** ध्यान करते रहना चाहिये ।

श्लोकार्थ – बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिये कि वह विवेकपूर्वक सम्पूर्ण दृश्य जगत् को आत्मा में ही विलीन करके, निरन्तर निर्मल आकाश-जैसे अद्वितीय आत्मा का ध्यान करता रहे ।

स्वामी विवेकानन्द की कथाएँ और दृष्टान्त

(स्वामीजी ने अपने व्याख्यानों में दृष्टान्त आदि के रूप में बहुत-सी कहानियों तथा दृष्टान्तों का वर्णन किया है, जो १० खण्डों में प्रकाशित 'विवेकानन्द साहित्य' तथा अन्य ग्रन्थों में प्रकाशित हुए हैं। उन्हीं का हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है, जिसका संकलन स्वामी विदेहात्मानन्द जी ने किया है। – सं.)

९७. एक डाकू का रूपान्तरण

प्राचीन काल की बात है । एक युवक बहुत प्रयास करने के बाद भी किसी भी प्रकार अपने परिवार का भरण-पोषण करने में सफल नहीं हुआ । वह बड़ा ही बलवान और पुरुषार्थी था । आखिरकार वह एक लुटेरा डाकू बन गया । वह राह चलते पथिकों पर आक्रमण करता और उनकी सम्पत्ति लूटकर अपने माता-पिता तथा स्त्री-पुत्रों का उदर-पोषण करता । काफी काल तक यही उसकी दिनचर्या रही । आखिरकार एक बार जब देवर्षि नारद उसी मार्ग से होकर जा रहे थे, तो उसने उन पर भी आक्रमण किया ।

देवर्षि ने डाकू से पूछा, ''तुम मुझे क्यों लूट रहे हो? दूसरों का धन लूटना और उनकी हत्या करना बहुत बड़ा पाप है । तुम क्यों इतना सारा पाप इकट्ठा कर रहे हो?''

डाकू बोला, ''मैं इस धन के द्वारा अपने परिवार का भरण-पोषण करता हूँ ।''

यह सुनकर देवर्षि बोले, ''क्या तुम समझते हो कि वे लोग तुम्हारे पापों में भी हिस्सा बटाएँगे?''

डाकू बोला, ''अवश्य बटाएँगे ।''

देवर्षि ने कहा, ''बहुत अच्छा, तुम मुझे इस वृक्ष से बाँधकर सुरक्षित रख लो और घर जाकर जरा अपने स्वजनों से पूछ आओ कि जैसे वे तुम्हारे कमाये हुए धन का उपभोग करते हैं, वैसे ही क्या वे तुम्हारे पापों में भी हिस्सा बटाएँगे?''

उस व्यक्ति ने अपने पिता के पास जाकर उनसे पूछा, ''पिताजी, क्या आप जानते हैं, मैं आपका कैसे पालन करता हूँ?''

पिता ने उत्तर दिया, ''नहीं, मैं नहीं जानता ।'' तब उसने बताया, ''मैं डकैती करता हूँ और लोगों को मारकर पैसे लाता हूँ ।''

पिता बोले, ''क्या? तो तुम ऐसा करते हो? तुम नीच हो, तत्काल मेरी आँखों के सामने से दूर हट जाओ ।''

तब उसने अपनी माँ के पास जाकर पूछा, ''माँ क्या तुम जानती हो, मैं किस तरह तुम्हारा भरण-पोषण करता हूँ ।''

वह बोली, ''नहीं ।'' उसने बताया, ''लूट और हत्या के द्वारा ।''

सुनते ही माँ चिल्ला उठी, ''हाय, तू कैसे भयंकर दुष्कर्म करता है!''

लड़के ने पूछा, ''परन्तु माँ ! क्या तुम मेरे पापों में भी हिस्सा बटाओगी?'' माँ ने उत्तर दिया, ''क्यों बटाऊँगी? मैंने कोई डकैती थोड़े ही की है!''

इसके बाद उसने अपनी पत्नी के पास जाकर पूछा, ''क्या तुम जानती हो कि मैं किस प्रकार तुम्हारा पालन-पोषण करता हूँ?''

वह बोली, ''नहीं जानती ।''

वह बोला, ''मैं एक डकैत हूँ और वर्षों से मैं लोगों को लूटता रहा हूँ; और इसी प्रकार मैं तुम लोगों की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करता रहा हूँ । अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि क्या तुम मेरे पाप में मेरी सहभागी बनोगी?''

वह बोली, ''कदापि नहीं! तुम मेरे पति हो और मेरा पालन करना तुम्हारा कर्तव्य है ।''

डाकू की आँखें खुल गयीं । उसने सोचा, ''तो संसार की यही रीति है! जिन लोगों के लिए मैं डाका डालता हूँ, मेरे वे निकटतम सम्बन्धी भी मेरे कर्मफल में हिस्सा नहीं बटाएँगे ।''

वह फिर वहीं लौटा, जहाँ उसने देवर्षि को बाँध रखा था । उनके बन्धन खोलने के बाद वह उनके चरणों में गिर पड़ा और सब कुछ उन्हें सुनाने के बाद बोला, ''महाराज, मेरी रक्षा कीजिये । बताइये, अब मैं क्या करूँ?''

देवर्षि ने कहा, ''तुम अपने वर्तमान कार्य को छोड़ दो । तुमने देख लिया कि तुम्हारे परिवार का कोई भी वस्तुत: तुमसे प्रेम नहीं करता । अत: इन भ्रान्तियों को त्याग दो । वे लोग तुम्हारे धन का भोग करेंगे, परन्तु जब तुम्हारे पास कुछ नहीं रहेगा, तो तुम्हें छोड़कर चले जायेंगे । वे लोग केवल तुम्हारे सौभाग्य में ही साथ देंगे, दुर्भाग्य में हिस्सा नहीं बटाएँगे । इसलिए उन्हीं की उपासना करो, जो भली-बुरी – हर अवस्था में हमारा साथ देते हैं । वे कभी हमारा परित्याग नहीं करते, क्योंकि प्रेम कभी नीचे नहीं गिराता, उसमें लेन-देन नहीं होता, कोई स्वार्थपरता नहीं होती ।''

इसके बाद देवर्षि ने उसे ईश्वर की उपासना सिखायी और वह अपना सब कुछ छोड़कर जंगल में चला गया । वहाँ वह प्रार्थना तथा ध्यान में इतना तल्लीन हो गया और स्वयं

शेष भाग पृष्ठ २४० पर

आधुनिक मानव शान्ति की खोज में (९)

स्वामी निखिलेश्वरानन्द

सचिव, रामकृष्ण मिशन, वड़ोदरा

छोटे बच्चों को दुख-दर्द क्यों ?

यदि कर्म के अनुसार फल मिलते हों, तो छोटे-छोटे बालकों ने तो कोई बुरे कर्म नहीं किये होते हैं, फिर भी उन्हें दुख-दर्द से पीड़ा क्यों मिलती है? किसी को पोलियो हो जाता है, किसी को थेलेसिमिया हो जाता है, कोई मंदबुद्धि का होता है, वे क्यों दुख भोगते हैं? इन प्रश्नों के उत्तर भी हमें कर्म के सिद्धान्त में मिलते हैं। भले ही इस जन्म में छोटे बच्चों ने बुरे कर्म न किये हों, पर पिछले जन्मों के संचित कर्मों के फल उन्हें भोगने पड़ते हैं। कई बार लोग दुखों से बचने के लिये आत्महत्या कर लेते हैं। किन्तु क्या इससे सचमुच दुख से मुक्ति मिल जाती है? देखकर ऐसा लगता है कि आत्महत्या करने वाला दुख से मुक्त हो जाता है, किन्तु वह बिलकुल दुख-मुक्त नहीं होता, उसे इससे भी अधिक कष्ट होता है। क्योंकि उसने भगवान के दिये हुए जीवन को स्वयं नष्ट करके महापाप करके अपने खाते में एक और पाप जोड़ दिया होता है, जिससे अगले जन्म में और अधिक दुख भोगना पड़ता है। मृत्यु भी मनुष्य को उसके कर्मफल भोगने से मुक्त नहीं करा सकती है। इस यथार्थ को न समझने से मनुष्य दुख से मुक्ति पाने के लिये आत्महत्या का सहारा लेता है।

इसी प्रकार साधना या तपस्या करते हुए यदि किसी की मृत्यु हो जाती है, तो उसका फल भी व्यर्थ नहीं जाता है। वह दूसरे जन्म में उसे अवश्य मिलता है। भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं – **शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते**। अर्थात् दूसरे जन्म में वे पवित्र धनी परिवार में जन्म लेते हैं या बुद्धिमान योगियों के कुल में जन्म लेते हैं। भगवान यह भी कहते हैं कि शुभ कर्म करनेवाले की कभी दुर्गति नहीं होती है। इस लोक और परलोक में उसका विनाश नहीं होता है। सत्कर्म और दुष्कर्मों के फल मनुष्य के साथ जन्म-जन्मान्तर तक जुड़े रहते हैं, इसलिये कर्मों के विषय में मनुष्य का सावधान रहना बहुत आवश्यक है।

दुखों को देखने की दृष्टि

'ऐसा दुख मुझे ही क्यों मिला' – इस प्रकार सोच-सोचकर मनुष्य अधिक दुखी होता है। यदि वह कर्म के नियम जानता हो, तो दुख को देखने की उसकी दृष्टि में परिवर्तन आ जाता है, क्योंकि वह जान जाता है, "यह तो भूतकाल या पूर्व जन्मों के मेरे संचित कर्मों का फल है, इसलिये इस दुख को जितना जल्दी भोग लिया जाए, उतना अच्छा है।" जिनको ज्ञानदृष्टि है, उन्हें दुख भोगने से खुशी होती है कि इतना पाप का खाता कम हुआ। इसके विपरीत, जब सुख आता है, तब उन्हें ग्लानि होती है कि अब खाते में से पुण्य कम हो रहा है। इस प्रकार सच्ची समझ आने से, सुख और दुख के प्रति दृष्टिकोण बदल जाने से दुख अधिक पीड़ादायक नहीं होता है।

इसके अलावा 'कर्म के नियम' द्वारा एक दूसरी समझ भी जागृत होती है कि हम जो कुछ दुख भोग रहे हैं, उसके लिये हम स्वयं उत्तरदायी हैं, कोई अन्य व्यक्ति, भगवान या भाग्य उत्तरदायी नहीं है। भूतकाल में किये गये हमारे कर्म ही इस दुख के लिये उत्तरदायी हैं। इस बात को समझते ही अन्य के ऊपर दोषारोपण अपने आप रुक जाते हैं, शिकायतें कम हो जाती हैं, इससे आन्तरिक शक्ति बढ़ती है। दुख सहन करने की शक्ति भी बढ़ती है। इसके अलावा यदि मेरे दुख के लिये मैं ही उत्तरदायी हूँ, तो यह दुख मुझे ही भोग लेना चाहिये।" इस समझ से दुख भोगने की शक्ति बढ़ती है और दुख वही होने पर भी मानसिक कष्ट की मात्रा कम हो जाती है।

अब व्यक्ति सोचने लगता है, "वर्तमान दुख भूतकाल के कर्मों का परिणाम है, तो यदि मुझे भविष्य में दुख नहीं भोगना हो, तो वर्तमान में कोई बुरे कर्म नहीं करने चाहिये।" इसके कारण दुष्कर्मों पर अपने आप नियंत्रण हो जाएगा।

उज्ज्वल भविष्य की प्रेरणा

वर्तमान दुख को भोगते हुए व्यक्ति में एक आत्मविश्वास भी जागता है। व्यक्ति सोचने लगता है कि ये वर्तमान दुख मेरे पूर्व संचित कर्म हैं, जो मुझे प्रारब्ध के रूप में मिले हैं, तो वर्तमान के कर्मों से मैं पुन: अपने भविष्य के प्रारब्ध का निर्माण अवश्य कर सकता हूँ। मेरा भविष्य मेरे अभी के कर्मों से बनेगा। यह ज्ञान जाग्रत होने से व्यक्ति में अद्भुत शक्ति का संचार होने लगता है। फिर तो वह वर्तमान दुख के बोझ के

नीचे कलपते, रोते, आँसू बहाते हुए जीवन जीने के बजाय उत्तम कर्मों द्वारा भविष्य निर्माण के कार्य में लग जाता है और इससे उसका वर्तमान दुख अपने आप कम हो जाता है। व्यक्ति को जब पता चलता है कि 'मेरे जीवन की बागडोर मेरे हाथ में ही है और मैं जहाँ चाहूँ, उस लक्ष्य-स्थल तक पहुँच सकता हूँ।'' तब वह दुख में रोने और हाथ-पर-हाथ रखकर समय बर्बाद करने के बदले वर्तमान सत्कार्यों द्वारा भविष्य के निर्माण में लग जाएगा, उसके लिये उसमें अपूर्व हिम्मत आ जाएगी।

कृपा ही केवलम्

भगवान की अद्भुत स्वचालित व्यवस्था है – 'जैसा करो वैसा पाओ'। इस व्यवस्था में भगवान स्वयं भी सामान्यत: हस्तक्षेप नहीं करते हैं। वे स्वयं भी यदि अवतार लेकर पृथ्वी पर आते हैं, तो उन्हें भी कर्म के अनुसार फल भोगना पड़ता है। भगवान के दस अवतारों की कथा से हम इसे जान सकते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या किसी प्रकार कर्मफल से मुक्ति नहीं मिल सकती है? क्या भगवान के नियम इतने अटल और जड़ हैं कि इनमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता है? यद्यपि सामान्य लोगों के लिये ये नियम अटल हैं, किन्तु ये जड़ नहीं हैं। इनमें परिवर्तन ला सकते हैं। भक्तगण अपने हृदय की तीव्रतम प्रार्थना से, नाम-जप से, प्रभु की कृपा से इनमें परिवर्तन ला सकते हैं। श्रीमाँ सारदा देवी कहती हैं, ''जो भगवान के नाम का निरन्तर जप करते हैं, उनके विधि के लिखे लेख विधाता स्वयं अपने हाथ से मिटा देते हैं। अर्थात् भाग्य को पलटने की, प्रारब्ध कर्म से मुक्ति देने की शक्ति भगवान की कृपा में निहित है। जो भगवान की शरण में आते हैं, उनकी कृपा प्राप्त करते हैं, वे कर्मबन्धन से मुक्त हो जाते हैं।''

कृपा किसे मिलती है?

जो भगवान के सम्पूर्ण शरणागत होते हैं, सच्चे भक्त होते हैं, वे ही कृपापात्र हैं। लेकिन जो स्वार्थी वृत्तिवाले होते हैं, भगवान का भजन-पूजन भी स्वार्थ के लिये करते हैं, ऐसे भक्तों को भगवान की कृपा नहीं मिलती है। श्रीरामकृष्ण देव ऐसे भक्तों को पटवारी बुद्धि के भक्त – अर्थात् व्यापारी बुद्धिवाले भक्त कहते हैं। ऐसे भक्त कहते हुए मिलेंगे, ''सब कुछ ईश्वर की इच्छा से होता है, मैं भ्रष्टाचार करता हूँ, तो वह भी ईश्वर की इच्छा से होता है। उसी ने मुझे ऐसी बुद्धि दी, ऐसा सुझाया, इसलिये मैंने ऐसा किया, इसमें मेरा कोई दोष नहीं है। मेरी कोई जिम्मेदारी नहीं है।'' ऐसे लोग करते तो अपनी इच्छा से हैं और जिम्मेदारी भगवान पर डाल देते हैं। इस विषय में श्रीरामकृष्ण एक सुन्दर दृष्टान्त देते हैं – ''एक व्यक्ति ने सुंदर बगीचा बनवाया था, परन्तु एक गाय प्रतिदिन बगीचे में आकर पौधे खा जाती थी। एक दिन उसे बहुत गुस्सा आया। जैसे ही उसे गाय दिखाई दी, उसने एक लकड़ी उठाकर गाय को मारी। गाय मर गई। इसके कारण उसे गोहत्या का पाप लगा। गोहत्या का पाप उसके पास आया, तब उसने पाप से कहा, ''गाय को मैंने नहीं मारा है, मेरे हाथ ने मारा है और हाथ के देवता तो इन्द्र हैं, इसलिये तू इन्द्रदेव के पास जा।'' गोहत्या का पाप इन्द्रदेव के पास पहुँचा। इन्द्र ने सभी बातें सुनीं, फिर वह ब्राह्मण के रूप में उस मनुष्य के पास आया और बगीचे की प्रशंसा करते हुए कहा ''वाह, ऐसा सुन्दर बगीचा किसने बनाया है?'' ''मैंने बनाया है'' उसने कहा। ''इतने सुन्दर वृक्ष किसने लगाये हैं?'' ''मैंने लगाये हैं।'' उसने अभिमान से कहा। फिर इन्द्र ने पूछा, ''यह गाय किसने मारी?'' तो उसने कहा, 'इन्द्र ने मारी।'' ''वाह रे वाह! यह सब तूने किया और गाय इन्द्र ने मारी? ले यह तेरा गोहत्या का पाप।'' यह कहकर इन्द्र ने उसे गोहत्या का पाप दे दिया और वहाँ से अन्तर्धान हो गए।'' यह दृष्टान्त बताता है कि अधिकांश मनुष्य अच्छे कार्यों का यश स्वयं लेते हैं और दुष्कृत्यों की जिम्मेदारी ईश्वर पर डाल देते हैं। ऐसे लोगों और भक्तों के लिये कृपा काम नहीं करती है। उनको तो कर्मों के फल भोगने ही पड़ते हैं। **(क्रमशः)**

पृष्ठ २३८ का शेष भाग

को भी ऐसा भूल गया कि दीमकों ने आकर उसके शरीर पर अपना वल्मीक बना लिया और उसे इसका भान तक नहीं हुआ ।

अनेक वर्ष बीत जाने के बाद एक दिन उसे एक आवाज सुनायी पड़ी, ''उठिए, महर्षि, उठिए ।''

इस प्रकार प्रबोधित किया जाने पर वह चकित होकर बोल उठा, ''महर्षि? नहीं, मैं तो एक डाकू हूँ ।''

उसी वाणी ने उत्तर दिया, ''अब तुम डाकू नहीं रहे, अब तुम एक पवित्र ऋषि हो और तुम्हारा पुराना नाम भी लुप्त हो गया है । चूँकि तुम्हारा ध्यान इतना गहरा था कि दीमकों ने आकर तुम्हारे शरीर के चारों ओर वल्मीक बना लिया और तुम्हें इसका बोध तक नही हुआ, अत: आज से तुम्हारा नाम वाल्मीकि के रूप से प्रसिद्ध होगा ।'' इस प्रकार वह एक महर्षि बन गया । (७/१३२-१३४) OOO

ऐसा सद्‌भावना दिवस मत मनाना

डॉ. एस. एन. सुब्बा राव, नई दिल्ली

१२ जनवरी को स्वामी विवेकानन्द का जन्मदिन है। इसे भारत सरकार ने राष्ट्रीय युवा दिवस घोषित किया है। प्रति वर्ष राष्ट्रीय युवा दिवस के रूप में इसे पूरे देश मनाया जाता है। इसी क्रम में १२ जनवरी १९८८ को विवेकानन्द युवा कल्याण केन्द्र के सचिव डॉ. सी. बी. सिंह ने उदित नारायण डिग्री कॉलेज में युवा दिवस के उपलक्ष्य में मुझे मुख्य अतिथि के रूप में आमन्त्रित किया। मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय के शताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में ११ जनवरी को इलाहाबाद में ही था, इसलिये अजय पाण्डेय के साथ पडरौना में 'युवा दिवस' के कार्यक्रम में भाग लेने चला गया। मैंने अपने सम्बोधन में कहा – हम लोग २६ जनवरी, १५ अगस्त, २ अक्टूबर आदि के अवसर पर धूमधाम से कार्यक्रम करते हैं, किन्तु कार्यक्रम के तत्काल बाद हम उन विचारों, आदर्शों एवं सिद्धान्तों को भूल जाते हैं, जिसके लिये कार्यक्रम आयोजित किये जाते हैं। हमें केवल जयन्ती मनाने की प्रथा को निभाने के लिये ही कार्यक्रम करना छोड़कर उसके मूल आदर्शों एवं सिद्धान्तों को अपने जीवन में अपनाना होगा। इस सम्बन्ध में मैं एक घटना सुनाता हूँ – "बिहार के एक छोटे-से रेलवे स्टेशन पर एक नव दम्पती उतरा। उनके पास केवल एक ब्रीफकेस था। ट्रेन से उतरते ही कुली आ गया। वह एकमात्र सामान ब्रीफकेश को स्टेशन से बाहर ले जाने के लिये अनुरोध करने लगा। पति के मना करने पर कुली ने विनम्रता से कहा, मेरा सौभाग्य है कि आप लोग इस स्टेशन पर उतरे। मुझे सेवा करने का सुयोग मिला है, इससे वंचित न करें। मैं भाड़ा नहीं लूँगा। कुली के सेवाभाव को देखकर पति-पत्नी द्रवित हुए। उसे सेवा का अवसर देकर आगे बढ़े। स्टेशन के निकास द्वार पर काले कोट में टिकट कलेक्टर मिला। पति ने टिकट दिखाने का प्रयास किया। टी.सी. ने सद्‌भावपूर्वक मुस्कराते हुए कहा – "अरे साहब ! आप से टिकट कौन माँग रहा है? स्टेशन भाग्यशाली है कि आप जैसे यात्री आज इस स्टेशन पर पधारे हैं।" स्वागत देखकर पति को लगा कि पत्नी के मायके वाले प्रभावशाली हैं। शायद ये कर्मचारी पत्नी को पहचान रहे हैं और मुझे दामाद के रूप में सम्मान दे रहे हैं। पति अपनी पत्नी के साथ ससुराल पहली बार जा रहा है, परिचितों द्वारा दामाद का सम्मान स्वाभाविक है।

इन्हीं विचारों में खोये दम्पती ज्योंहि स्टेशन परिसर से बाहर निकले, त्योंहि स्टेशन मास्टर दौड़कर आये और पूरे शिष्टाचार के साथ अभिवादन किया। पति-पत्नी को रेल-कर्मियों का व्यवहार आत्मीय लगा। वे सोचने लगे कि यह ससुरालवालों का प्रभाव है या यहाँ के सभी रेलकर्मी संस्कारी, शिष्टाचारी हैं। स्टेशन मास्टर ने अनुरोध किया – शाम ढल चुकी है, अंधेरा हो गया है, साधन मिलने की संभावना भी कम है। अंधेरे में पत्नी के साथ पैदल ससुराल तक जाना खतरे से खाली नहीं है। आप जैसे रेलयात्रियों हेतु ही प्रथम श्रेणी का प्रतीक्षालय बना है। कृपया आज रात्रि यहीं विश्राम करें। कल सुबह अपनी मंजिल की ओर प्रस्थान कीजियेगा।

ऐसी आत्मीयता अपनों से भी नहीं मिलती। अपरिचितों से ऐसा आदर पाकर कौन पत्थर दिल होगा, जो पिघल नहीं जायेगा। उनलोगों ने स्टेशन मास्टर की विनती स्वीकार की। वे विश्राम हेतु प्रथम श्रेणी प्रतीक्षालय में चले गये।

लम्बी यात्रा की थकान थी। तुरन्त गहरी नींद आ गयी। तभी दरवाजा खटखटाने की आवाज आयी। पति ने दरवाजा खोला। दरवाजे पर वही काले कोट वाला टी.सी., जो शाम को मिला था, उसने टिकट मांगा। पति ने कहा – "शाम को तो दिखाया था।" "फिर दिखाओ।" टी.सी. की आवाज में रूखापन था। खैर, टिकट दिखाया। टी.सी. ने टिकट देखते ही कहा – "पढ़े लिखे लगते हो ! शर्म नहीं आती ! द्वितीय श्रेणी का टिकट लेकर प्रथम श्रेणी के प्रतीक्षालय में विश्राम कर रहे हो। दण्ड-राशि देनी होगी।" अब तक पत्नी भी जग चुकी थी। मायके का भ्रम दूर हो चुका था। पति ने टी.सी. से स्टेशन मास्टर को बुलाने का निवेदन किया। स्टेशन मास्टर आये। पति ने राहत पाने की आशा से सारी घटना बताई। स्टेशन मास्टर ने कहा – "आप जैसे शिक्षित लोग ही कानून तोड़ते हैं। टी.सी. का कहना सही है। द्वितीय श्रेणी के टिकट पर प्रथम श्रेणी के प्रतीक्षालय में विश्राम अपराध है। दण्ड-राशि तो तत्काल देनी ही होगी, नहीं तो जेल जाना पड़ेगा।" स्टेशन मास्टर का व्यवहार देखकर पति-पत्नी अवाक् रह गये। पति ने साहस बटोर कर कहा – "मैं दण्ड देने को तैयार हूँ, किन्तु शाम को आप सबने जो सद्-व्यवहार दिखाया, उसमें अचानक इतना परिवर्तन कैसा आया? जानना चाहता हूँ।"

स्टेशन मास्टर ने बताया – "रेलवे में प्रत्येक वर्ष सद्‌भावना सप्ताह मनाया जाता है। रेलवे में रात्रि बारह बजे के बाद दिन बदल जाता है। अब रात्रि के साढ़े बारह बजे हैं। कल सद्भ्भावना सप्ताह का अन्तिम दिन था।" दम्पती अवाक् रह गये। इसलिये ऐसा सद्भावना दिवस मत मनाना। ❍❍

(प्रस्तुति – अजय कुमार पाण्डेय, वाराणसी)

समाचार और सूचनाएँ

विवेकानन्द जयन्ती समारोह, रायपुर

स्वामी विवेकानन्द जी की १५५वीं जयन्ती के उपलक्ष्य में रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर द्वारा आयोजित विभिन्न कार्यक्रमों का संक्षिप्त विवरण –

राष्ट्रीय युवा दिवस मनाया गया – १२ जनवरी, २०१७ को प्रात: ९ बजे पंडित रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय, रायपुर और रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के संयुक्त तत्त्वावधान में राष्ट्रीय युवा दिवस मनाया गया, जिसमें विश्वविद्यालय के राष्ट्रीय सेवा योजना की सभी शहरी इकाइयों के स्वयंसेवकों और विवेकानन्द विद्यापीठ, रायपुर के लगभग ७०० छात्र-छात्राओं ने भाग लिया। प्रशासन भवन के सामने स्वामी विवेकानन्द जी की मूर्ति पर सभी अतिथियों ने पुष्प अर्पित किए। उसके बाद विश्वविद्यालय के प्रेक्षागृह में 'स्वामी विवेकानन्द का जीवन-दर्शन' पर छात्र-छात्राओं ने व्याख्यान दिया। इसमें विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ. एस. के. पाण्डेय, कुलसचिव, विवेकानन्द विद्यापीठ के सचिव डॉ. ओमप्रकाश वर्मा और कार्यक्रम समन्वयक नीता वाजपेयी ने छात्रों को सम्बोधित किया। सभा की अध्यक्षता स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने की। कार्यक्रम के अन्त में सबको अल्पाहार और भगिनी निवेदिता की पुस्तक दी गई।

विभिन्न प्रतियोगिताओं का आयोजन – रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सत्संग भवन में प्रतिदिन सन्ध्या ६ बजे विभिन्न प्रकार की प्रतियोगिताएँ आयोजित की गयीं – २२ जनवरी, २०१७ को अन्तर्महाविद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता का आयोजन किया गया। विषय था – "**स्वामी विवेकानन्द का मनुष्य निर्माण के लिये सन्देश**"। इस प्रतियोगिता में शासकीय नागार्जुन स्नात्कोत्तर विज्ञान महाविद्यालय, रायपुर के छात्र ऐश्वर्य पुरोहित ने प्रथम और महाराज अग्रसेन इन्टरनेशनल कालेज, रायपुर के सिद्धार्थ सुबोध पाण्डेय ने द्वितीय पुरस्कार प्राप्त किया। इस सत्र की अध्यक्षता मुकुन्द हम्बर्डे ने की। २३ जनवरी को अन्तर्महाविद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता थी, जिसमें "**धर्म और राजनीति**" विषय में ऐश्वर्य पुरोहित ने प्रथम और शासकीय योगनन्दम छत्तीसगढ़ महाविद्यालय, रायपुर के छात्र विजय बेसरा ने द्वितीय पुरस्कार प्राप्त किया। इस सत्र की अध्यक्षता श्री विनोद कुमार लाल ने की। २४ जनवरी को अन्तर्महाविद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता थी, जिसका विषय था – "**इस सदन की राय में संस्कृति के अनुकूल लोकाचार ही राष्ट्र को महान बनाता है।**" इसमें शासकीय नागार्जुन स्नातकोत्तर विज्ञान महाविद्यालय, रायपुर की छात्रा नम्रता वर्मा को विषय के पक्ष में प्रथम और विजय बेसरा को द्वितीय पुरस्कार मिला। २५ जनवरी को '**इस सदन की राय में भौतिकवाद और तकनीक ही मनुष्य की सभी समस्यायों का हल है।**' इस विषय पर अन्तर्विद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता थी। इसमें सन्त ज्ञानेश्वर विद्यालय, रायुपर की छात्रा आकृति द्विवेदी ने पक्ष में प्रथम और विपक्ष में विवेकानन्द विद्यापीठ, कोटा, रायपुर के छात्र रामकुमार आडिले ने द्वितीय पुरस्कार प्राप्त किया। इस सत्र की अध्यक्षता डॉ. गिरीशकान्त पाण्डेय ने की।

२६ जनवरी को अन्तर्विद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता थी। इसमें विवेकानन्द विद्यापीठ, कोटा, रायपुर के हेमन्त बारले ने '**रायपुर शहर में धूल, धूआँ और मच्छर की समस्या**' पर प्रथम पुरस्कार और शिवोम् विद्यापीठ, महादेव घाट, रायपुर की परिधि शर्मा ने '**देकर दान बनो महान**' विषय पर द्वितीय पुरस्कार प्राप्त किया। इस सत्र की अध्यक्षता रविशंकर विश्वविद्यालय के प्रोफेसर रवीन्द्र ब्रह्मे ने की। २७ जनवरी को अन्तर्विद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता का आयोजन था। विषय था – '**सेवा धर्म के प्रणेता : स्वामी विवेकानन्द**'। इसमें शिवोम् विद्यापीठ, महादेव घाट, रायपुर की परिधि शर्मा ने प्रथम और विवेकानन्द विद्यापीठ, कोटा, रायपुर के राहुल निराला ने द्वितीय पुरस्कार प्राप्त किया। सत्र की अध्यक्षता डॉ. एस. के जाधव ने की। २८ जनवरी को 'अन्तर्माध्यमिक शाला विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता' का विषय था – '**भारतीय समाज को स्वामी विवेकानन्द का**

शक्तिदायी सन्देश'। इसमें विवेकानन्द विद्यापीठ, कोटा, रायपुर के क्षत्रपाल नेताम प्रथम और विजय मार्कण्डेय ने द्वितीय पुरस्कार प्राप्त किया। इस सत्र की अध्यक्षता डॉ. मीता झा ने की। २९ जनवरी को 'अन्तर्माध्यमिक शाला वाद-विवाद प्रतियोगिता' थी। विषय था – '**इस सदन की राय में चरित्र निर्माण के लिये घर की अपेक्षा समाज की भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण है।**' इसमें विवेकानन्द विद्यापीठ, कोटा, रायपुर के मिथिलेश नेताम ने विपक्ष में प्रथम और साहिल कोसले ने पक्ष में द्वितीय पुरस्कार प्राप्त किया। इस सत्र की अध्यक्षता डॉ. शम्पा चौबे ने की। ३० जनवरी को 'अन्तर्प्राथमिक पाठ-आवृत्ति प्रतियोगिता' थी। इसमें विवेकानन्द विद्यापीठ, कोटा, रायुपर के छात्र देवराज पैकरा ने प्रथम और कृष्णा पब्लिक स्कूल, रायपुर की कुमारी कनिष्का जोशी ने द्वितीय पुरस्कार स्थान प्राप्त किया। इस सत्र की अध्यक्षता श्री ए. के. हाजरा जी ने की। सभी प्रतियोगिता-सत्रों का आयोजन एवं संचालन स्वामी व्रजनाथानन्द जी ने किया ।

बालक संघ द्वारा सांस्कृतिक कार्यक्रम

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम द्वारा संचालित बालक संघ के बच्चों ने १ फरवरी, २०१७ को सन्ध्या ७.३० बजे आश्रम प्रांगण में नव-निर्मित पंडाल में ब्रह्मचारी नन्दू महाराज के निर्देशन में छत्तीसगढ़ की संस्कृति पर आधारित भव्य लोकगीत और लोकनृत्य प्रस्तुत किये।

विवेकानन्द जयन्ती समारोह का उद्घाटन और पुरस्कार वितरण – २ फरवरी, सोमवार २०१७ को सन्ध्या ६ बजे 'विवेकानन्द जयन्ती समारोह' का उद्घाटन और पुरस्कार वितरण समारोह सम्पन्न हुआ। सभा के मुख्य अतिथि दैनिक समाचार पत्र हरिभूमि के प्रधान सम्पादक श्री हिमांशु द्विवेदी ने 'स्वामी विवेकानन्द की प्रासंगिकता', विशिष्ट अतिथि रामकृष्ण मिशन आश्रम, नारायणपुर के सचिव स्वामी व्याप्तानन्द जी ने 'नारी शिक्षा के प्रति स्वामी विवेकानन्द', रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी अव्ययात्मानन्द जी ने 'सेवा धर्म के प्रणेता : स्वामी विवेकानन्द', विवेकानन्द विद्यापीठ, कोटा, रायपुर के सचिव डॉ. ओमप्रकाश वर्मा ने 'युवकों के प्रति स्वामी विवेकानन्द' पर अपने विचार व्यक्त किये। आश्रम के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने सभा की अध्यक्षता की। विजेता छात्र-छात्राओं को मुख्य अतिथि के करकमलों से पुरस्कार प्रदान किया गया। मंच संचालन स्वामी देवभावानन्द जी ने तथा धन्यवाद ज्ञापन स्वामी व्रजनाथानन्द जी ने किया।

रामायण प्रवचन – स्वामी विवेकानन्द जयन्ती के उपलक्ष्य में ३ फरवरी से ११ फरवरी, २०१७ तक श्रीरामकथा के विख्यात संगीतमय प्रवचनकर्ता मानस मर्मज्ञ स्वामी राजेश्वरानन्द सरस्वती 'श्रीराजेश रामायणीजी' ने आश्रम-प्रांगण के भव्य पांडाल में 'भजन और सत्संग की महिमा' पर सरस उत्कृष्ट प्रवचन दिया।

मंदिर में भजनांजलि – १० फरवरी, २०१७ को प्रात: १० बजे स्वामी राजेश्वरानन्द सरस्वती जी ने रामकृष्ण मन्दिर में भजनांजलि प्रस्तुत की।

पंडवानी हुई – १२ फरवरी, २०१७ को संध्या ७ बजे श्रीकृष्ण किंकर महाभारत मंडली, के चेतन देवांगन द्वारा पंडवानी गायन हुआ।

भगिनी निवेदिता सार्धशती जयन्ती समारोह

प्रतियोगिता आयोजित हुई – १३ फरवरी, २०१७ को अपराह्न ३ बजे आश्रम के सत्संग भवन में 'राष्ट्रीय विकास में भगिनी निवेदिता का योगदान' पर प्रतियोगिता हुई, जिसमें ९ विद्यालयों के २४ विद्यार्थियों ने भाग लिया। इसमें निखिलेश अग्रवाल ने प्रथम, कुमारी खुशी दूबे ने द्वितीय और कुमारी हिमानी बैद ने तृतीय पुरस्कार प्राप्त किया।

व्याख्यान आयोजित हुए – १३ फरवरी को शाम ७ बजे आश्रम के नव निर्मित पंडाल में 'भगिनी निवेदिता : जीवन और सन्देश' पर व्याख्यान हुए, जिसमें इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डॉ. राजलक्ष्मी वर्मा, पं. रवि. विश्वविद्यालय की मीता झा, शा.दू.ब. महाविद्यालय की डॉ. शम्पा चौबे ने व्याख्यान दिये। स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने अध्यक्षता की।

राहत कार्य – जनवरी में रायपुर और दुर्ग ब्लाक के १२ गाँवों – देवारभाटा, सेजबहार, धुसेरा, कुकुरबेड़ा, वीर शिवाजीनगर, वाटिकानगर, भोथली, मगरघटा, मोती-साँकरा, अमलेश्वर, और नवागाँव, रविनगर में १००० गरीब महिलाओं को साड़ियाँ और १०० कम्बल वितरित किये गये।

जयन्तियाँ मनाई गईं – १ जनवरी, २०१७ को श्रीमाँ सारदा, १९ जनवरी को स्वामी विवेकानन्द और २८ फरवरी को श्रीरामकृष्ण देव की जयन्ती मनाई गयी, जिसमें विशेष पूजा, होम भजन और प्रवचन, तथा ठाकुर, माँ-नाम संकीर्तन हुए। हजारों लोगों को खिंचड़ी प्रसाद दिया गया।

OOO